गांधीजी क्या चाहते थे?

निर्मल कुमार वसु

• अ. भा. सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन •

गांधीजी क्या चाहते थे?

लेखक

निर्मलकुमार वसु

अनुवादक

मदनलाल जैन

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी

प्रकाशकीय

'गांधीजी क्या चाहते थे?' यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर जानने की उत्सुकता किसे न होगी? श्री निर्मलकुमार वसु ने गांधीजी के विचारों का गम्भीर अध्ययन और मनन करने के उपरान्त इस प्रश्न का समाधान किया है। गांधीजी रचनात्मक कार्य पर इतना जोर क्यों देते थे, उसका मूल उद्देश्य क्या है, हमारे कार्यकर्ता कैसे हों, जनता के साथ समरस होने की क्या आवश्यकता है, अहिंसक असहयोग और सत्याग्रह का मूलतत्त्व क्या है, उसकी साधना कैसे की जाय और मंगल मार्ग से क्रान्ति-साधना किस प्रकार सम्भव है?—इन सब बातों का इस पुस्तक में विस्तार से विवेचन किया गया है।

बारह वर्ष पूर्व लिखी गयी यह पुस्तक पुरानी होने पर भी नयी है। गांधी-विचारधारा को समझने में इस पुस्तक से निश्चय ही सहायता मिलेगी।

प्रकाशक

अ नु क्र म

१. गांधीजी क्या चाहते थे? ५—६

२. रचनात्मक कार्य और उसकी रक्षा १०—१६

झाड़-झंखाड़ों का परिचय ११, नये जीवन के पौधे १५, रचनात्मक कार्य और शांत प्रतिरोध १६।

३. रचनात्मक कार्य का मूल उद्देश्य २०—३१

उत्साह का ज्वार-भाटा २०, खादी-संघ का इतिहास २१, रचनात्मक कार्य का मूल उद्देश्य २४, कार्यकर्ताओं को निर्देश २६, एक प्रश्न २७।

४. गांधीवाद की परीक्षा ३२—४७

५. सत्याग्रह का मूलतत्त्व ४८—५५

भारतीय साधना की अन्तर्निहित धारा ४८, सार्थक मरण का उपाय ५२।

६. सत्याग्रह-साधना ५६—७०

नमक-कानून भंग की एक घटना ५६, एक उपमा ५६, धर्मतल्ला में छात्रों का सत्याग्रह ६०, उपमा का पुनरुल्लेख ६१, समाज का अन्धकार मिटाने का प्रयत्न ६२, राजनैतिक प्रचार ६६, अंतिम बात ६८।

७. मंगल मार्ग से क्रांति-साधना ७१—८४

गांधीजी क्या चाहते थे ? : १ :

कोई बारह वर्ष पूर्व मैंने गांधीजी के लेखों का एक संकलन प्रकाशित किया था। मेरी अभिलाषा थी कि उस पुस्तक का नया संस्करण नवजीवन कार्यालय से प्रकाशित हो। मैंने अपनी यह आकांक्षा सेवाग्राम के एक मित्र को लिख भेजी थी। तुरंत इसका उत्तर आया कि गांधीजी जब बंगाल पधारें, तब मैं उनसे अवश्य मिलूँ। अतः सोदपुर में जब गांधीजी आकर ठहरे, तो खबर करने पर एक दिन उन्होंने मुझे बुला भेजा।

४ नवंबर १९४५ को ४ बजकर १५ मिनट पर मैं गांधीजी के सामने हाजिर हुआ। सोदपुर के खादी-प्रतिष्ठान के एक खुले बरामदे में गांधीजी की खटिया बिछी हुई थी। दिनभर वहीं बैठे-बैठे वे अपना काम करते थे अथवा कभी पास के कमरे में बैठकर मुलाकात और चर्चा आदि करते थे। उस दिन जहाँ उनकी खाट बिछी थी, उसीके ऊपर एक मसहरी टँगी हुई थी। मसहरी की विशेषता यह थी कि उसके चार के बजाय सिर्फ दो ही खूँटे थे। गांधीजी स्वच्छ सफेद बिछौने पर बैठे थे और पास ही एक छोटी-सी तिपाई पर दो-एक बरतन रखे थे, इधर-उधर कुछ मूढ़े पड़े हुए थे।

निकट पहुँचने पर गांधीजी ने मुझसे एक मूढ़े पर बैठने के लिए कहा और खुद ही बातचीत शुरू कर दी। गांधीजी ने कहा, तुम सिर्फ मेरे लेखों में से संकलन करते हो, सो बात नहीं है; बल्कि व्याख्या करने की भी चेष्टा करते हो। लेकिन इस बारे में मुझे कुछ कहना है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसीको कार्य में परिणत करते समय उसका व्यतिक्रम हो जाता है। अतः मैं चाहता हूँ कि जब मैं काम में लगा रहता हूँ, अथवा देश में एक जगह से दूसरी जगह यात्रा करता हूँ, उस समय तुम मेरे साथ रहकर सब बातों को बारीकी से देखो। बहुत दिन पहले की बात है, मैं मेदिनीपुर में नाड़ाजोल महाराजा के महल में गया था।

वहाँ सोने के बरतनों में मुझे खाना परोसा गया। यद्यपि सोने के थाल में भोजन करना मेरे लिए उचित नहीं था, फिर भी मैंने उसे अस्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार एक बार रेल में सफर करते समय मैं अंगूर खा रहा था। एक सहयात्री ने यह देखकर मेरा तिरस्कार किया कि इतना महँगा फल मुझे खाना उचित नहीं।

मैं—उसने शायद कहीं सुन रखा होगा कि आप रोज छह पैसे से ज्यादा भोजन पर खर्च नहीं करते।

गांधीजी—तुम ठीक कहते हो, उसकी ऐसी ही धारणा थी। मैंने उससे कहा, अच्छा ही हुआ कि आपने मुझे अंगूर खाते हुए देखा। आपके लिए यही ठीक है कि आप इस बात को लोगों के सामने कहें कि गांधीजी यद्यपि गरीब दरिद्रों के साथ एक होने के आदर्श का प्रचार करते हैं, लेकिन कार्यतः वे अब भी सफल नहीं हो पाये हैं। लेकिन वह भला मानस व्यर्थ ही लज्जित हो गया।

मैं—बापूजी, इस बारे में हम लोग आपको गलत क्यों समझेंगे ?

गांधीजी—किंतु आदर्श और साधना में कार्यतः जो व्यवधान आ पड़ता है, उसके बारे में तुम्हें स्पष्ट रूप से जानना जरूरी है। मैं जो कुछ लिखता हूं, उससे मेरा समग्र रूप नहीं पा सकोगे। क्योंकि लेख में आदर्श के बारे में आशा-आकांक्षा की परछाईं सामने आ जाती है, मैं वास्तव में जहाँ पहुँचा हूँ, उसकी परछाईं नहीं रहती। अतएव सिर्फ लेखों पर विचार करने से तुम मेरे बारे में सही धारणा नहीं कर पाओगे। मेरे दैनिक आचरण के साथ तथा मेरे आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए गठित संस्थाओं के बारे में तुम्हारा साक्षात् परिचय होना आवश्यक है।

दक्षिण अफ्रीका में एक व्यक्ति ने मुझसे कहा था—"गांधी, तुम भले आदमी हो, लेकिन जो लोग तुम्हारे साथ काम करते हैं, वे भले नहीं हैं।" मैंने जवाब दिया, "जिन लोगों को लेकर मेरा काम चलता है, जिनके सहयोग से अहिंसा के आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा करता

हूं, वे यदि अक्षम और अयोग्य हों, तो वह अक्षमता मेरी अपनी है। स्वतंत्र रूप से मैं भला आदमी कैसे हो सकता हूं? कुछ भी कमी या कमजोरी हो, तो उसका मूल कारण मुझमें ही निहित है। आदर्श को कार्यकारी रूप देने का दायित्व मैंने ही लिया है।"

मैं—बापूजी, इस संबंध में भी हम लोगों के लिए आपके काम की परीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है। कारण, भारतवर्ष में जो भी आंदोलन चल रहे हैं, उनमें आपका आदर्श कार्यतः जो रूप ले रहा है, उसके साथ हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो है ही।

गांधीजी—यह बात ठीक हो सकती है। मुझसे मुलाकात होने से पहले ही रोम्यॉं रोलॉं ने मेरी एक जीवनी लिखी थी। उन जैसे प्रतिभाशाली लेखक की बात अलग है।

मैं—लेकिन बापूजी, रोलॉं ने आपके प्रति संपूर्ण रूप से न्याय किया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। अहिंसक असहयोग की शक्ति की दिशा भले ही उन्होंने ठीक-ठीक आँक ली हो, किन्तु भारत के समग्र आंदोलन को उन्होंने नेतिधर्मी मान लिया था। ऐसा लगता है कि यूरोप की संस्कृति और साधना को अस्वीकार करना ही मानो उनका उद्देश्य था। भारत के अहिंसक आंदोलन के लक्ष्य के बारे में इस प्रकार का मत रखना ठीक नहीं था।

रचनात्मक कार्य के द्वारा आप जो नया जीवन गढ़ना चाहते हैं, उसके प्रभाव से विरोधी शक्ति क्षीण होकर अंत में समाप्त हो जाती है। ऐसा अवहेलना और उपेक्षा के आघात से होता है, साक्षात् आक्रमण से नहीं। आपकी क्रांति नव जीवन-निर्माण के द्वारा हो सधती है। इस बारे में रोलॉं ने पूरा न्याय नहीं किया। भारतवर्ष में हमारी स्थिति दूसरी है। सारे देश को लेकर अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में आपके आदर्शों की प्रतिक्रिया की परीक्षा कर सकते हैं—इसीलिए आपके व्यक्तिगत जीवन के बारे में कौतूहल नहीं होता; लेकिन आपके द्वारा निर्मित संस्थाओं की बात अलग है। उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने की मेरी स्वाभाविक इच्छा है।

गांधीजी—रोलाँ के बारे में तुमने जो कुछ कहा है, वह अंशतः सत्य है और इसीलिए उनसे भेंट होने पर मैंने उनसे भारतवर्ष आकर सब चीजों को खुद देख लेने का अनुरोध किया था। उनकी इच्छा भी थी, लेकिन अंत तक हमें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

लेकिन मैं कह रहा था कि कोई-कोई ऐसा सोचते हैं कि अहिंसा के आदर्श का पालन करना साधारण मनुष्य के बूते के बाहर की बात है। कम-से-कम जो लोग अहिंसा की साधना की चेष्टा करते हैं, उन पर भी मेरे व्यक्तिगत प्रभाव का जादू चलता है। मैं इसे ठीक नहीं मानता। अहिंसा के आदर्श की ओर वे लोग निष्ठा के कारण ही चल रहे हैं, ऐसा मेरा विश्वास है।

लेकिन उस चलने में पद-पद पर व्यतिक्रम हो सकता है। मैं चाहता हूँ कि अहिंसा के आदर्श को कार्य में परिणत करने की चेष्टा में हमारी गति के बारे में लोग संस्कारशून्य होकर देखें, वैज्ञानिक की सूक्ष्म दृष्टि से पक्षपात-रहित हृदय से विचार करें और अहिंसा को जीवन के क्षेत्र में अविच्छिन्न चेष्टा के द्वारा उत्तरोत्तर कहाँ तक रूप दिया जाय, इसके बारे में ठीक-ठीक विचार करें। परीक्षा में अगर पहले ही से हमारी धारणा हो कि अहिंसा की साधना मनुष्य के लिए संभव नहीं है, तो ऐसे लोगों का विचार कभी ठीक नहीं हो सकता। वैज्ञानिक की मुक्त सत्यदृष्टि साधने की आवश्यकता है और इसी दृष्टि से तुम सब संस्थाओं की परीक्षा करो और तुम्हें जो जँचे, सो मुझे बताओ।

मैं—बापूजी, इस प्रकार के गुरुतर दायित्व के योग्य मैं नहीं हूँ।

गांधीजी—यह मैं व्यक्तिगत रूप से तुमसे नहीं कहता हूँ। मैं सत्य की खोज करनेवाले सब लोगों से अहिंसा के आदर्श और साधना के बारे में सम्यक् विचार चाहता हूँ। श्रद्धा के साथ, सहानुभूति के साथ लोग भारतवर्ष में अहिंसा के आंदोलन के बारे में अनुसंधान, विचार और चिंतन करें; यही मेरी प्रार्थना है।

कैसा अद्‌भुत व्यक्ति ! सारा भारतवर्ष जिसके प्रभाव से आज प्रभावित हो रहा है, भारत में जनसाधारण की उद्‌बुद्ध आत्मा ने जिसकी वाणी से वाणी पायी है, जिसकी निर्देशित कर्मसाधना आत्मप्रकाश करती है, जो विपथ-गामी जनशक्ति को अपने आदर्शों का अनुयायी बनाकर नियंत्रित करने की शक्ति रखता है, उसीकी अपने बारे में कैसी निरभिमानता और कैसी असाधारण सत्यनिष्ठा। गांधीजी कहते हैं कि—"पहले मैं कहता था कि ईश्वर सत्य के रूप में प्रकट होता है, लेकिन आज कहता हूँ कि--सत्य ही ब्रह्मस्वरूप है।" यह बात उपनिषद् की वाणी की तरह संस्कारशून्य अनुभव-सिद्धि की दीप्ति से उज्ज्वल हो उठी है। शायद इसी प्रकार एक अन्य सत्य-संधानी साधक ने अनेक युगों पूर्व कहा था—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपात्रृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

"सत्य का स्वरूप सोने के पात्र से ढंका हुआ है। चूँकि सत्यधर्म की उपलब्धि करना हमारा धर्म है, इसलिए तुम हमारे लिए, हे पूषन्, आँखों के सामने से उसी आवरण को हटा दो, ताकि हम सत्य को देख सकें।"

● ● ●

रचनात्मक कार्य और उसकी रक्षा : २ :

[एक रूपक]

एक घर में भाई और बहन रहते थे। बहन बड़ी थी, भाई छोटा। छोटा होने पर भी भाई की दुष्टता की सीमा नहीं थी। रात-दिन वह बगीचे-बगीचे घूमकर कहाँ पक्षियों के घोंसले हैं, किस पेड़ पर पके फल हैं, इसीकी टोह में समय बिताता था। बहन को बागबानी का शौक था। वह खेल के साथियों के घर से फूल तोड़ लाती थी, पेड़ों के पौधे लाकर उन्हें रोपती और यत्नपूर्वक उन्हें नित्य सींचती थी। फिर फूल लगने पर भाई-बहन मिलकर सरस्वती-पूजा के समय उन्हींकी पुष्पांजलि देते थे।

इसी तरह दोनों भाई-बहन बड़े होने लगे। एक दिन भाई को भी बहन की तरह बाग लगाने का शौक पैदा हुआ। बाहर बैठक के पास दीवाल से लगे कितने ही जंगली पौधे उग आये थे। उसने कुदाल से उन्हें खोद-खादकर जगह साफ की और कहीं से जंगली फूल का एक पौधा लाया। बाद में कहीं बकरी न चर जाय, इस डर से उसके चारों तरफ बाँस का एक बड़ा-सा बाड़ा बाँधने लगा। लेकिन बहन के बाग में बाड़ा नहीं था। वह हमेशा घर में ही रहती थी और सतर्कता के साथ बाग की निगरानी करती थी। बहन ने भाई को बुलाकर कहा, इतना ऊँचा बाड़ा मत बाँधो, लोगों को तुम्हारा फूलों का पौधा दिखाई ही नहीं देगा। इसके बाद भाई से पूछा, भैया, तुमने किसका पेड़ लगाया है? भाई कुछ नहीं बता सका, वह इस बारे में कुछ जानता ही नहीं था। आखिर बहन ने बैठकखाने के पास जाकर देखा कि भाई ने धतूरे का पौधा लगाया है। तब उसने हँसकर कहा, इसीके लिए इतना बड़ा बाड़ा बाँध रहे हो!

प्राचीन काल में हमारे यहाँ समाज में मनुष्य के लिए भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध था। उसे अक्षुण्ण रखने के लिए यथेष्ट बुद्धि और यत्न की आवश्यकता थी। लेकिन पराधीन होने के बाद बहुत दिनों के प्रयत्न और अवहेलना के

कारण देश में धन-तंत्र के रस से पुष्ट तरह-तरह के जंगली पौधे उग आये। जलकुंभी जिस प्रकार धीरे-धीरे नदी-ताल-पोखरों को छा लेती है, उसी प्रकार इन जंगली पौधों ने भी बढ़कर ग्राम्य जीवन के सहज स्रोत का कंठरोध कर दिया है। जिन सब वृत्तियों का अवलंबन लेकर पहले लोग अपना पालन-पोषण करते थे, आज उन कामों से दो मुट्ठी अन्न भी नहीं जुट पाता। झाड़-झंखाड़ों की तरह जिन नयी वृत्तियों ने पुरानी वृत्तियों का स्थान ले लिया है, उनके बदले में फिर से नयी-नयी वृत्तियाँ शुरू करनी पड़ेंगी। धतूरे के समान फूलों की बहार और शोभा में मग्न रहने से काम नहीं चलेगा। जिस खेती के द्वारा मनुष्य का जीवन फिर से स्वास्थ्य, सम्पत्ति और स्वाधीनता से पुष्टि-लाभ कर सके, उसकी खोज करनी होगी और सतत जाग्रत दृष्टि द्वारा नये जीवन को बचाकर रखना होगा।

झाड़-झंखाड़ों का परिचय

वीरभूम जिला धान का प्रदेश है। पहले लोग इस प्रदेश में धान के अलावा कपास, सरसों, ईख और आवश्यकतानुसार रेड़ी पैदा करते और सन आदि बुन लेते थे। यहां के निवासियों की यही चेष्टा रहती थी कि नित्य प्रयोजन की वस्तुओं के लिए गाँव छोड़कर कहीं दूर न जाना पड़े। गाँव में लोहार, कुम्हार, बढ़ई, धोबी, नाई और माली बसते थे और उनमें से अधिकांश लोगों को हर साल गृहस्थ के घर से धान का एक निश्चित अंश मिलता था। किसीको मजदूरी के बदले में जमीन मिली हुई थी, जिस पर वह अपनी खेती करता था। जो चीज एक गाँव में पैदा नहीं हो सकती थी, अथवा जिसे खरीदने की हमेशा आवश्यकता भी नहीं होती, उसे यहाँ के निवासी शीतकाल में धान की कटाई के बाद विभिन्न मेलों में जाकर खरीद लाते थे। किसी मेले में प्रधानतः गाय-बैलों की बिक्री होती थी, कहीं हल, घर के दरवाजे, खिड़कियाँ, कहीं पाट या सन के कपड़े अथवा बरतन। कभी-कभी लोग काशी, वृन्दावन अथवा श्रीक्षेत्र जैसे सुदूर तीर्थों में जाकर वहाँ से बरतन, कपड़े आदि खरीद लाते थे और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्हें काम में लाते रहते थे।

उस जमाने में देश में खेती की भी सुव्यवस्था थी। गाँव के अनेक लोग करघा अथवा कोई और शिल्प या दस्तकारी का काम करते थे और किसान अपने मन के अनुकूल खेती करता था। उस जमाने में अजय नदी में बाढ़ आने पर बाढ़ का मटमैला पानी खेतों में भर जाता था, नदी-नालों और झीलों के द्वारा वह पानी सब जगह फैल जाता था। संथाल परगने के पहाड़ों से बह-कर आयी हुई चिकनी मिट्टी से खेतों की शक्ति दुगुनी होती थी और साथ ही साथ तालाब भी उस पानी से धुलकर फिर से मछलियों से भर जाते थे। वहाँ यत्न से बाढ़ के पानी को रोक सकने पर गृहस्थों की धान की खत्तियाँ भर उठती थीं, तालाबों में यथेष्ट मछलियाँ होती थीं और गृहस्थों के प्रसाद से गाँव के कारीगरों के शरीर और मन भी स्वास्थ्य और आनन्द से पूर्ण हो उठते थे।

लेकिन कालक्रम से मानो इस व्यवस्था पर शनि की दृष्टि लगी। पहले इस देश का वाणिज्य-व्यवसाय अधिकतर अजय नदी के द्वारा नावों से होता था, आज की तरह बैलगाड़ियों का चलन उन दिनों नहीं था। अजय नदी के पास के गाँवों में बुनकरों और लाख के कारीगरों की बस्ती थी। उन लोगों के हाथ की कारीगरी का सुंदर काम विलायत में भेजकर डच और अंग्रेज व्यापारी अच्छा पैसा कमाते थे। लेकिन भाग्य के फेर से देश की शासन-सत्ता अंग्रेज कंपनी के हाथ में जाने के कारण पहले की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हो गया। यहाँ तैयार माल बेचकर जो सामान्य लाभ होता था, उससे शक्ति-शाली बनियों का मन नहीं भरा। सारे उत्तर भारत में विलायती माल की खपत बढ़ाने के लिए सरकार ने तब हवड़ा, हुगली, वर्धमान और वीरभूम के किसानों की सुख-सुविधा का रत्तीभर भी खयाल किये बिना रेल की लाइन डालने की व्यवस्था की। रेल के द्वारा माल की आमद-रफ्त बढ़ाने के लिए विभिन्न गाँवों से स्टेशन तक पक्की सड़क बना दी गयी। धान का भाव बढ़ गया। गाँव के निवासी नकद पैसे की आवश्यकता और लोभ से बैलगाड़ी पर लादकर अपना माल शहर के बाजारों में बेंचकर अच्छे पैसे कमाने लगे।

धान को बेचकर जो पैसे हाथ में आते, उसीसे अब गाँववासी मिल का कपड़ा,

मिल की चीनी और मिल का पेरा हुआ सरसों का तेल खरीदने लगे। मिट्टी, पीतल और काँसे के बरतनों की जगह एनामेल के अथवा अलमोनियम के बरतन खरीदने लगे और उन लोगों के पैरों में गाँव में तैयार किये हुए जूतों के बदले चमड़े और केनवास के जूते दीखने लगे। इससे गाँव के गृहस्थ के घर में कुछ लाटसाहबी और बाबूगिरी जरूर आ गयी, पर पास के घरों में तेली, बुनकर, कसेरे, बढ़ई और मोची के धंधे मर जाने से सारे गाँव में दारिद्रय की मात्रा बढ़ गयी।

सरकार ने आमद-रफ्त के लिए अजय नदी पर जो पुल बाँधा, उसकी मार से आजकल बाढ़ आने पर वह मानो और अंकुश नहीं मानना चाहती। बाढ़ का पानी खेतों में घुसकर उन्हें बालू से पाट देता है और कहीं पानी जरा भी नहीं पहुँचता। नदी, नाले और झील जलकुंभियों से भर जाते हैं। खेतों में सिंचाई के ताल भी गँदले होकर या तो दुर्गन्धित पोखरों में या अंत में खेती की जमीन में बदल जाते हैं। सिंचाई के अभाव में रबी की फसल कम हो गयी और किसान चुपचाप एक फसल की बिक्री के मुनाफे पर निर्भर रहने लगे। इधर जुलाहे, मोची आदि कारीगरों का काम भी समाप्त होने लगा। किसीने दैनिक मजदूरी पर काम करना शुरू कर दिया, कोई गाँव छोड़कर भाग गया; बहुत लोग खेती के लिए होड़ करने लगे। गोचारण-भूमि, इंधन की लकड़ी का जंगल आदि सबको काटकर उस जमीन में धान के खेत बना दिये। गाय-बैलों के लिए घास-फूस की कमी होने लगी। लोगों ने ईंधन के अभाव में गोबर के कंडे जलाने शुरू कर दिये। अनाड़ी किसानों की संख्या बढ़ने लगी और खाद के अभाव के कारण जमीन की उत्पादन-शक्ति भी धीरे-धीरे कम होने लगी।

इधर लोगों में अभाव के बढ़ने के साथ-साथ समाज में तरह-तरह के अनाचार दिखाई देने लगे। चोरी, डकैती बढ़ने लगी। डोम, चमार, बागदी आदि निम्न जातियों में जिन लोगों के शरीर मजबूत थे, उनमें कुछ लोग लठैत हो गये। ब्राह्मण-कायस्थों में भी पहले लोग अच्छे लठैत थे। लेकिन कई कारणों से उनकी सम्मिलित शक्ति कम होने की वजह से वे छल

और कौशल से निम्न श्रेणी के बलिष्ठ लोगों को अपने अधीन रखने के जाल रचने लगे। सरकार ने शांति-रक्षा के लिए देश की जो गरीब और बलिष्ठ निम्न श्रेणी की प्रजा थी, उस पर एक सौ दसवीं धारा लगाकर उन्हें परेशान कर दिया। इस काम में उच्च श्रेणी के मध्यवित्त और धनिक श्रेणी के लोग सरकार के साथ सहयोग करने लगे। फलस्वरूप गाँव के निवासियों में पहले अन्न और उसके साथ सहयोगिता और प्रेम का जो बंधन था, वह बिलकुल लुप्त हो गया और सारा समाज शिथिल हो गया। बंगालियों का जीवन भी धीरे-धीरे शक्तिहीन होने लगा।

लेकिन इसके फलस्वरूप क्या किसीको कहीं कोई लाभ नहीं हुआ? हुआ। लेकिन वह सिर्फ धनी और मध्यवित्त लोगों को। वे लोग धान और चावल के कारोबार से अच्छी कमाई करने लगे। व्यवसाय-वाणिज्य के केंद्र धीरे-धीरे छोटे-मोटे शहर बन गये। गाँव के जुलाहे, ताँती और मोचियों के घर की सुन्दर लड़कियाँ गरीबी की मार और न सह सकने के कारण शहरों में आकर रोजगार करने लगीं। मलेरिया फैलने के साथ ही साथ गाँव में जो दो-चार बड़े लोगों के घर अब तक बचे हुए थे, वे भी लड़के-बच्चों की अच्छी पढ़ाई की सुविधा के बहाने या बीमारी में चिकित्सा और पथ्य की सुविधा की बात सोचकर गाँव छोड़ शहरों में आ बसे। उनके लिए शहरों में स्कूल खोले गये, हरिसभा का उद्घाटन हुआ। शिक्षक, डॉक्टर, मुख्तार, लेखक और नाट्यकारों का कारोबार दिन-दिन चमकने लगा।

जिन लोगों ने सिर्फ शहर देखे थे, वे इससे प्रसन्न हुए; लेकिन जिन लोगों ने इसके साथ ही साथ मृत गाँवों की ओर भी दृष्टि डाली, वे समझ गये कि नयी आर्थिक क्रांति के फलस्वरूप गाँवों का संहार करके शहरों की श्री-वृद्धि हुई है। लक्ष्मी का वास्तविक आसन तो धान की खत्ती और कारीगरों की कर्मशाला में है। इसके बदले रुपयों की तिजोरी पर लक्ष्मी का आसन बनाकर मनुष्य स्वास्थ्य खो रहा है, संपत्ति खो रहा है और सबसे बड़ी बात यह कि अपने और समाज के जीवन पर समस्त अधिकार खो

रहा है। सिर्फ लाभ के वशीभूत होकर, श्रम से विमुख होकर अपने कल्याण के मूल पर कुठाराघात करके सर्वनाश कर रहा है।

नये जीवन के पौधे

आज देश के सब लोग मिट्टी से रस-संग्रह न करके परोपजीवी पौधों की तरह धनतंत्र के विषवृक्ष का आश्रय लेकर टिके हुए हैं। विश्व के बाजार में धान का भाव चढ़े, तो किसान को भी दो पैसे मिलें और लड़के-बाले भी दो रोटी सुख से खा सकें। कपड़े का बाजार तेज हो, तो पहनने के कपड़े कम करने पड़ते हैं, जाड़े में ठंड के मारे कष्ट की सीमा नहीं रहती, छप्पर के सामने अलाव लगाकर रात बितानी पड़ती है। सालभर किसान के हाथ में काम नहीं रहता। सामर्थ्य और इच्छा होने पर भी काम नहीं मिलता। ऐसे परमुखापेक्षी जीवन में सुख कहाँ?

इसीलिए हमें अपनी चेष्टा से नया जीवन बनाना होगा। परोपजीवी पेड़ों की तरह धनतंत्र के विषवृक्ष का फल न खाकर मिट्टी के रस से मनुष्य की असली कांति लौटा लानी होगी। उस नये जीवन की व्यवस्था से किसीको काम के अभाव में कष्ट नहीं होगा। सभी को स्वास्थ्य के अनुकूल खाने, पहनने और रहने को मिलेगा। समाज में ऊँच-नीच का भेद नहीं रहेगा। गांधीजी तो चाहते हैं कि सबकी आय भी समान होनी चाहिए। मोची, लोहार, कुम्हार आदि सब गाँव की सेवा करते हैं। डॉक्टर, मुख्तार या वकील भी वही करते हैं। किसीके बिना भी समाज नहीं चल सकता। एक परिवार में जिस प्रकार कोई एक काम करता है, कोई दूसरा काम करता है; समाज में भी इसी प्रकार सभी अपनी शक्ति के अनुसार परिश्रम करके भाई-भाई के समान रहेंगे। मैं अध्यापकी करता हूँ, इसलिए लोहार की अपेक्षा मेरी आय अधिक हो, यह ठीक नहीं है। भले ही लोग पंडित की ज्यादा इज्जत करें, तिथि-पर्व पर उसे दो-चार फलमूल ज्यादा दे दें, लेकिन अपनी बुद्धि बेचकर पंडित के लिए दूसरों से ज्यादा लेना ठीक नहीं है। प्रकृति ने हम सब लोगों पर शारीरिक परिश्रम करने का जो दायित्व सौंपा है, उसे टालने की चेष्टा करना अच्छा नहीं

है। वह अधर्म का रास्ता है अर्थात् मरण का रास्ता है। इसीलिए धर्म वही है, जो समाज के जीवन को धारण करे, उसकी रक्षा करे। इसीलिए स्वार्थ की चिंता करना अधर्म है, अपनी जाति के ही फायदे के बारे में सोचना अधर्म है। सबके कल्याण के बारे में सोचना धर्म है।

नये उत्साह और नयी चेष्टा के फलस्वरूप हमारे गाँवों को शहर के शोषण से मुक्त होकर स्वावलंबी होना होगा। जहाँ परस्पर वृत्ति की सहयोगिता कम हो गयी है, वहाँ फिर से नये ढंग की वृत्तियाँ पैदा करनी होंगी। गाँव में नवजीवन के पारस का स्पर्श होगा, तो वे घिनौने घूरे से स्वास्थ्य के आनन्द-निकेतन में बदल जायँगे। मोटे चावल और मोटे कपड़े की व्यवस्था गाँव में ही गाँववासियों के अधिकार में होगी। जो चीज गाँव में नहीं होती, जो काम एक गाँव के द्वारा होना संभव नहीं है, उसके लिए और गाँवों के साथ मिल-जुलकर सब लोग व्यवस्था कर लेंगे। नहर खोदने के लिए, नदी की सफाई के लिए गाँव के प्रतिनिधि अन्य प्रदेशों के प्रतिनिधियों से मिलकर एक होकर काम का बँटवारा करेंगे। ऐसी सहयोगिता में कोई शोषक या शोषित नहीं रहेगा। वह सहयोगिता बराबरी के धरातल पर स्वेच्छा से पैदा हो जायगी। इससे सबका मंगल और कल्याण होगा। लेकिन गाँववासी जीवन-निर्वाह के लिए उपयोगी मोटे चावल, कपड़े और कम-से-कम शिक्षा की व्यवस्था अपने अधिकार में रखेंगे।

भावी जीवन के अंकुर का जो चित्र ऊपर खींचा गया है, उसे हम किस प्रकार गढ़ेंगे, इस बारे में हम सबको सोचना होगा, इसका यथोचित दायित्व ग्रहण करना होगा।

जिन भाई और बहन की चर्चा आरम्भ में आयी है, उस भाई ने धतूरे के पौधे को बचाने के लिए मजबूत बाड़ा बाँधा था। ऐसी चेष्टा को हम खाम-खयाली कहते हैं। अबोध भाई इससे ज्यादा जानेगा भी कहाँ से ? जिस नये जीवन के पौधे को हम भारत-भूमि में रोपना चाहते हैं, वह सचमुच ही अच्छे पेड़ का पौधा हो, नहीं तो झाड़-झंखाड़ों को साफ करके जमीन तैयार करने और बाड़ा बाँधने में जो परिश्रम होगा, वह सब बेकार जाने की आशंका है।

कोई-कोई ऐसा भी सोचते हैं कि रचनात्मक कार्य के बारे में अभी से इतनी सूक्ष्म दृष्टि से सोचने की जरूरत नहीं है, क्योंकि असली रचनात्मक कार्य होना इस समय संभव नहीं है। असल काम तो बाड़ा बाँधना और झाड़-झंखाड़ों को साफ करना है। अर्थात् नया जीवन गढ़ने की क्षमता पहले चाहिए और उसे प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि पहले देश के शासन को हाथ में लिया जाय।

गाँव में जब कभी कोई बड़ा काम होता है, तभी चुने हुए कुछ लोगों पर सारे काम का भार आ पड़ता है। सभी गाँवों में दो-चार व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके हाथ में प्रधान दायित्व सौंपकर निश्चिन्त हुआ जा सकता है। उनका आदेश मानकर अगर बाकी लोग चलें, तो सारा काम अच्छी तरह संपन्न होता है। समाज की व्यवस्था भी बड़े भारी यज्ञ के समान है। लेकिन इतिहास के किसी प्राचीन युग में कुछ शक्तिशाली लोगों ने पंचायत के सहारे राष्ट्र को बनाया था। पर समाज के भोजन, वस्त्र, व्यवसाय-वाणिज्य, स्वास्थ्य और शिक्षा सभी को सरकार ने धीरे-धीरे अपने अधीन कर लिया। हमारे देश में ग्राम-पंचायतें या लोहार-कुम्हारों की जाति की पंचायतें पूर्ण रूप से विलुप्त न होने पर भी उनके काम को सरकार ने अधिकांश संकुचित कर दिया था। जो लोग सरकार चलाते थे, उन्हें इस व्यवसाय में यथेष्ट लाभ होने लगा। ऐश्वर्य, मान, साख सभी कुछ उन्हें मिला और इस व्यवस्था को हमेशा के लिए दृढ़ करने के लिए उन्होंने देश-रक्षा का सारा भार अर्थात् अस्त्र-शस्त्र सब कुछ अपने आधीन करके देश की जनता को इस विद्या से दूर कर दिया। लेकिन कुछ दिनों बाद भारतवर्ष का ऐश्वर्य देखकर दूसरे देशों के ऐश्वर्यशाली लोग ललचाये। भारतवर्ष भी बार-बार आक्रमण होने के कारण अपनी स्वाधीनता खो बैठा। इस देश के शासक स्वयं ही नहीं मरे, जिस प्रजा को उन्होंने ठूँठ बना रखा था, वह भी मर गयी।

आज यदि हम बचना चाहते हैं, सचमुच का स्वराज्य चाहते हैं, तो समाज और सरकार दोनों को चलाने का भार संपूर्ण रूप से दूसरों के हाथ में सौंप देने से काम नहीं चलेगा। हम यह नहीं भूलना चाहते कि राज्य-शक्ति या राज्य-कर्मचारी ही देश के सब कुछ नहीं हैं। जो लोग राज चलाते हैं, वे लोग जनमत के द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होने पर भी बार-बार यही कहते हैं

कि "तुम्हें कोई चिंता नहीं है। हम लोग निपुण हैं और हमने देश की रक्षा के लिए पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र एकत्र कर लिये हैं। तुम लोग हम पर विश्वास रखो। ठीक समय पर लगान-टैक्स आदि दो। जरूरत के मुताबिक परिश्रम करते रहो, बाकी हम सब चला लेंगे।" लेकिन हम इसे स्वीकार नहीं करेंगे। काम तो हमारा है; हम ही जब उस ओर सतर्क दृष्टि नहीं रखेंगे, तो ओर कौन रखेगा? हम इस माया में और नहीं फँसना चाहते। भारत-भूमि में हम नया जीवन-वृक्ष रोपना चाहते हैं; खामखयाली भाई की तरह चारों ओर स्वाधीन सरकार का बाड़ामात्र बाँधकर हम शांत नहीं होंगे, बल्कि दीदी की तरह अनालस्य, अम्लान दृष्टि से उसे हमेशा घेरे रखेंगे। शायद बाड़ा बाँधना पड़े, शायद सरकार के बिना काम न चले; लेकिन यह उतना ही, जितने के बिना काम न चल सके।

स्वाधीनता से स्वराज्य बड़ा है। आज स्वाधीनता से हम यह समझते हैं कि अपनी जाति के आधीन एक शासन है, जो शासन समाज के सारे जीवन का नियंत्रण करना चाहता है। स्वराज्य का अर्थ है, एक ऐसी व्यवस्था—जहाँ प्रत्येक मनुष्य के अपने जीवन पर उसका अधिकार अनेकांश में अक्षुण्ण है। समाज के बड़े काम करने के लिए वह अन्य लोगों के साथ स्वेच्छा से सहयोग करता है और सहयोगिता की जो व्यवस्था बन जाती है, वह शासन या दंड के द्वारा मनुष्य को नहीं चलाती। इसीमें लाभ है, यह समझकर वहाँ सब लोग आनंदचित्त होकर अपने ही द्वारा गढ़े हुए विधि-निषेधों को मानकर चलते हैं। इस स्वराज्य की व्यवस्था में सरकार भी हो सकती है, लेकिन आजकल के तथाकथित 'स्वाधीन' राष्ट्रों में जो अत्यधिक दंडशक्ति राष्ट्रपति के हाथ में सौंप दी जाती है, वह नहीं रहेगी। समाज का नियंत्रण यथासंभव छोटी-बड़ी पंचायतों की मारफत चलेगा और वे पंचायतें किसी श्रेणी-विशेष की सुविधा के लिए न होकर सबके कल्याण की ही चेष्टा करेंगी। जोर या दंड की सहायता से उन्हें घर के पालतू पशु की तरह परिचालित नहीं करना पड़ेगा। ऐसे समाज में कोई भी मनुष्य प्रकृति के दिये हुए शारीरिक श्रम या शरीर-यज्ञ के दायित्व से छुटकारा नहीं लेगा, इसीलिए वहाँ शोषित या शोषण को स्थान नहीं होगा।

रचनात्मक कार्य और शांत प्रतिरोध

गांधीजी नया जीवन रचने का जो मार्ग देशवासियों को दिखा रहे हैं, उसका नाम है रचनात्मक कार्य और उसकी रक्षा करने का उनका नया कौशल है शांत प्रतिरोध। शांत प्रतिरोध की विशेषता यह है कि इसके द्वारा निरस्त्र, अत्यंत साधारण स्त्री-पुरुष भी अपनी स्वराज्य-व्यवस्था को बचाने के लिए संग्राम कर सकते हैं।

गांधीजी रचनात्मक कार्य की ओर एकांतिक भाव से ध्यान देने के लिए कहते हैं। देश में समस्याओं का तो अभाव है नहीं। खाने-पहनने का अभाव, बेकारी, अशिक्षा और कुशिक्षा, परस्पर विश्वास का अभाव, दूसरों को छोड़कर खुद लाभ उठाने की चेष्टा, दूसरों को छोटा करके खुद को बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा—इन सबने मिलकर मानो जीवन की खेती को झाड़-झंखाड़ों से छा दिया है। अच्छे पौधे लगाने पर भी वे मुरझा जाते हैं। रोग अवश्य पुराना है, फिर भी हताश होने की बात नहीं है। परमहंस देव कहा करते थे कि घर में हजारों वर्षों से अँधेरा छाया हुआ है, लेकिन जिस दिन गृहलक्ष्मी के मंगल हाथों से वहाँ प्रदीप जल उठता है, उसी क्षण युग-युगांतर का संचित अंधकार निमेषभर में समाप्त हो जाता है। हमारे दारिद्र्य और पराधीनता की ग्लानि कितने ही दिनों की पुरानी क्यों न हो, लेकिन जिस क्षण हम सोचेंगे कि आज से हम स्वाधीन होंगे, जीवन के अचल जगन्नाथ के रथ को सब एक साथ उत्साह-पूर्वक ढकेलकर फिर से सचल करेंगे, बस, उसी क्षण अंतर में संकल्प के पारस-पत्थर के स्पर्श से हमारे चेहरे और आँखों का रंग सुवर्ण-दीप्ति से भर उठेगा।

इसके लिए चाहिए साहस, संकल्प, व्रतनिष्ठा, परस्पर में आंतरिक प्रेम और सहयोगिता। जो नहीं है, उसे गढ़ना होगा। हर साल हम लोग दुर्गामाता की मिट्टी की मूर्ति गढ़ते हैं। अब हमें भावी समाज की चिन्मय मूर्ति गढ़नी होगी। हम लोग उसे गढ़ भी सकेंगे, सब मिलकर उसकी रक्षा भी कर सकेंगे। किसी भी कारण से सिर्फ सरकार पर गढ़ने और रक्षा करने का सारा भार डालकर निश्चिंत नहीं होंगे।

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है॥

● ● ●

रचनात्मक कार्य का मूल उद्देश्य : ३ :

उत्साह का ज्वार-भाटा

निर्माण के कार्य में उत्साह की आवश्यकता है, यह बात सभी समझ सकते हैं। लेकिन आलस्य मानो हमारी नस-नस में घुसा बैठा है। हमारे बचपन में भोजन-वस्त्र का जो बाहुल्य था, आज वह नहीं है। आज बहुत से लोगों के घरों में रुपयों की प्रचुरता हुई है, लेकिन खाने-पहनने की चीजों की स्वच्छंदता १९१४ के महायुद्ध के बाद से ही मानो क्रमशः कम होती जा रही है। रुपये की कीमत कम-ज्यादा होने से कभी मध्यवित्त श्रेणी के नौकरीपेशा लोग कष्ट पाते हैं, कभी किसानों को तकलीफ होती है; लेकिन कुल जमा देश में दारिद्र्य की मात्रा बढ़ती ही जा रही है। १९३९ से सारी पृथ्वी पर जिस भयावह दुर्भाग्य का सूत्रपात हुआ है, उसके परिणामस्वरूप सिर्फ युद्ध की चोट से ही मनुष्य मरे हों, सो बात नहीं है। अनाहार और बीमारी से भी लाखों आदमियों की जानें गयी हैं। कितने दिनों में इस अवस्था का अवसान होगा, यह बात आज कोई विश्वासपूर्वक सोच भी नहीं सकता।

१९२० में जब सर्वप्रथम भारतवर्ष में असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ, तभी गांधीजी ने व्यापक रूप से चरखा चलाने की बात कही थी। वे चाहते थे कि देशवासी कम-से-कम कपड़े के बारे में तो स्वावलंबी हो जायँ। विलायती माल का बहिष्कार करके अंग्रेजों को बेकार करने का उनका अभिप्राय नहीं था। वे कहते थे कि मनुष्य जिस प्रकार अपने-अपने घर में भात रोंधकर खाता है, उसी प्रकार अगर सूत कातकर गाँव के जुलाहे से बुनवाकर कम-से-कम अपने कपड़ों का प्रबन्ध कर ले, तो हर साल कपड़ा खरीदने के लिए विदेशों में हम ६० करोड़ रुपया भेजते हैं, वह देश में ही रह जायगा और जनता काम के अभाव में दारिद्र्य न भोगकर कुछ तो लाभ उठायेगी। वे यह

भी सोचते थे कि अगर भारत के सात लाख गाँवों में चरखा स्थायी आसन ले ले, तो लोगों का उत्साह बढ़ेगा और धीरे-धीरे वे कपड़े के अलावा नित्य-प्रयोजनीय अन्यान्य सब चीजें गाँव में अथवा गाँव के आसपास तैयार कर लेने का प्रबन्ध करेंगे। इसके फलस्वरूप सबकी आर्थिक स्थिति भी सुधरेगी और स्वावलंबन की शक्ति भी बढ़ेगी।

लेकिन गांधीजी ठीक जो चाहते थे, वैसा नहीं हुआ। प्रत्येक आंदोलन के समय कुछ दिनों के लिए जनता में उत्साह का जोश दिखाई देता था। जो कार्यकर्ता राजनैतिक आंदोलन में भाग लेते थे, उन्हें तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते थे। अन्य लोगों में से कुछ लोग सहानुभूति दिखाने के लिए आग्रह के साथ चरखा चलाते थे, कोई सिगरेट के बदले बीड़ी की आदत डालते थे। इससे देश में विलायती चीजों की बिक्री कम हो गयी, सब लोगों में विलासिता कम करने की एक शुभ इच्छा का उदय हुआ। लेकिन कुछ दिनों के बाद आंदोलन का वेग जब मन्दा पड़ जाता, तो कुछ दिनों के बाद फिर से पुरानी आदतें एक-एक करके लौट आतीं। लोग सस्ता कपड़ा ढूँढ़ने लगते, खुद सूत कातकर कपड़ा बुनवाने की बात भूल जाते। कार्यकर्ता कोशिश करने पर भी चरखे के बारे में उत्साह नहीं पैदा कर पाते थे। जो लोग बिल्कुल गरीब थे, केवल उनमें दिन में दो-एक आने की मजदूरी की आशा से चरखा टिका रहा। लेकिन वे गरीब लोग पैसे के लिए ही सूत कातते थे, अपने पहनने के लिए नहीं। वह कपड़ा भी शहर के बाजार में बिकता था। जिन लोगों के मन में स्वदेशी के व्रत के प्रति निष्ठा अविचल थी, वे ही अधिक मूल्य देकर खादी खरीदते थे और इसके फलस्वरूप कितने ही गरीबों को दो मुट्ठी अनाज मिल पाता था। लेकिन गांधीजी इस प्रकार के खादी या रचनात्मक कार्य को नहीं चाहते थे। वे क्या चाहते थे, यह मैं आगे बता रहा हूँ।

खादी-संघ का इतिहास

१९३० में सत्याग्रह-आंदोलन के समय वीरभूम के बोलपुर शहर में खादी-संघ नाम की एक छोटी-सी दूकान खोली गयी। शुरू-शुरू में यहाँ

कलकत्ते से लाये हुए कुछ चरखों और खादी की बिक्री का प्रबन्ध हुआ था। तभी मैं व्यक्तिगत रूप से खादी-संघ में शामिल हो गया। थोड़े दिनों में ही खादी-संघ के कर्मचारियों ने खादी-उत्पादन का संकल्प लिया। देश में उस समय व्यापक सत्याग्रह-आंदोलन चल रहा था, इसलिए पैसे की कमी नहीं हुई। थोड़े से ही प्रयत्न से शहर से सात सौ रुपये चंदा किया जा सका और उन्हीं रुपयों की सहायता से बोलपुर में ही चरखा, तकुआ, सूत-कताई, बुनाई आदि सब कामों की उपयुक्त व्यवस्था हो गयी। हमें कपास की एक गाँठ खरीदने के सिवा बाहर की किसी चीज पर निर्भर नहीं रहना पड़ा।

आंदोलन की पहली झोंक निकल जाने के बाद खादी के बारे में एक के बाद एक तरह-तरह के प्रश्न उठने लगे। जैसे, खादी का ठीक परता बैठता है या नहीं, इस समय कोई और लाभदायक काम करने में क्या दोष है—आदि। संघ के कार्यकर्ता लोगों को समझाते थे कि अधिक लाभ का काम मिलने पर वही काम करना ठीक है। लेकिन अगर न मिले, तो समय बरबाद न करके कुछ शारीरिक श्रम द्वारा पहनने के कपड़े ही बना लें, तो क्या यह कम लाभ की बात है ? जिन लोगों ने चरखा नहीं छोड़ा था, वे यह बात स्वीकार करते थे और कई उत्साही दूकानदारों ने दूकान पर बैठे-बैठे ही दुर्गापूजा के पहले तीन-चार महीने में तीन गज से लगाकर तेरह गज कपड़े तक का सूत कात लिया था। फलस्वरूप बोलपुर शहर में गृहस्थों में कम-से-कम यह धारणा बन गयी थी कि कोई भी गृहस्थ अपने पहननेभर के कपड़ों के लिए आवश्यक सूत अनायास कात सकता है, केवल प्रयत्न करने की आवश्यकता है। दूसरे, खादी बेचने के लिए कोई बाजार ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती, सब जगह इसे बेचा जा सकता है। न भी बिके, तो लोग खुद इस्तेमाल कर सकते हैं।

खादी-संघ की ओर से कई बातों के बारे में सतर्क दृष्टि रखी जाती थी। जितने चरखे चलते थे, कार्यकर्ता प्रतिदिन अपने हल्के में घूमकर उन्हें

चालू रखते थे। चरखे का माल ठीक रखने, टेढ़े तकुए सीधे कर देने, सूत अटेरने के बारे में सावधानी बरतने की ओर उनकी पूरी दृष्टि रहती थी। सूत बुनने का भी प्रबन्ध किया गया था। फलस्वरूप खादी-संघ का काम अच्छी तरह चलने लगा।

दो साल के बाद देश में फिर धर-पकड़ शुरू हुई। तब कई कार्यकर्ता जेल चले गये और खादी के काम को भी हानि पहुँची। मैं जब जेल में था, तब मेरे मन में गांधीजी के खादी सम्बन्धी विचारों पर विशेष रूप से मन्थन चला। मुझे ऐसा लगा कि किसी भी गाँव में एक खादी-प्रतिष्ठान खड़ा कर लेना कठिन नहीं है। संभव है, आरम्भ में हर जगह बाहरी आर्थिक और बौद्धिक सहायता की आवश्यकता हो। लेकिन काम को चालू रखने के लिए स्थानीय लोग यदि सदा ही बाहर की ओर ताकते रहें, तब तो काम नहीं चल सकता। अपना काम अपने से ही चलाना होगा। यह उद्देश्य लेकर, जेल से छूटकर मैं जब बोलपुर लौटा, तो शुरू से यही कोशिश की कि स्वयं कुछ न करके स्थानीय कार्यकर्ता ही सब कुछ करें। लेकिन दुःख की बात यह है कि कहीं न कहीं मैल रहने के कारण मनोनुकूल सफलता नहीं मिल सकी। मेरे उपस्थित रहने पर कार्यकर्ताओं में जो तत्परता दिखाई देती थी, दूसरे समय वह नहीं टिकती थी। फलस्वरूप संस्था को क्षति होने लगी, काम भी धीरे-धीरे कम होने लगा। बाहर की लोकशक्ति से काम को पहले की तरह भले ही चालू रखा जा सकता था, लेकिन यह तो रोग दूर होने का लक्षण नहीं था, दवा के जोर से रोगी को जीवित रखने की व्यवस्था थी।

किस उपाय से देश की जनता का आलस्य और दूसरों पर निर्भर रहने की आदत स्थायी रूप से दूर की जा सकती है, यह मैं नहीं जानता; लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि इस जड़ता को यदि हम दूर न कर सकें, तो मनुष्य के चरित्र की जो वर्तमान स्थिति है, उस पर स्थायी कल्याण का महल खड़ा करना संभव नहीं है।

गांधीजी क्या चाहते थे ?

रचनात्मक कार्य का मूल उद्देश्य

गांधीजी से एक बार प्रश्न किया गया था कि मनुष्य की आत्मशक्ति को जाग्रत करने के लिए, तमोभाव दूर करने के लिए राजसी शक्ति का आश्रय लेना ठीक है या नहीं ? मनुष्य क्या एकदम सात्त्विक हो सकेगा ? खादी और ग्रामोद्योग को पुनर्जीवित कर सकें, तो गाँव के लोगों की कुछ आर्थिक उन्नति होना संभव है। अगर वे लोग इस काम को उपयोगी समझें और खुद चलायें, तो गाँव का कल्याण होगा, इसमें संदेह नहीं। लेकिन इसमें जिस प्रकार की दृढ़ निष्ठा की आवश्यकता है, उसके लायक उत्साह मिलना तो दुर्लभ है। इसलिए खादी के काम के बदले हम अगर लोगों को छोटी-छोटी लड़ाइयों के लिए उत्साहित करें और इस सुयोग से उन्हें धीरे-धीरे संबद्ध कर दें, तो इसमें क्या दोष है ? जमींदार, महाजन अथवा सहकारी संस्थाएँ जनता से जो मुनाफा लेती हैं, जनता का उसके बदले में बहुत कम लाभ होता है। इसकी मात्रा कम करने के प्रयत्न में लोगों को सहज ही संबद्ध किया जा सकता है और वे लोग उत्साह के साथ यह लड़ाई छेड़ भी सकते हैं। खादी-उत्पादन या ग्रामोद्योग संस्थाओं में आर्थिक लाभ तो है, लेकिन अत्याचार के विरुद्ध लड़ने में लोगों का मन जिस प्रकार सहज ही उत्साहित हो जाता है, खादी के काम में यह संभव नहीं है। अतः खादी के द्वारा आत्मशक्ति को जगाने की अपेक्षा छोटी-छोटी लड़ाइयों की सहायता से वही चेष्टा करना क्या अच्छा नहीं है ?

उत्तर में गांधीजी ने जो कहा, वह हम सबके लिए ध्यान देने की बात है। उन्होंने कहा कि अहिंसक क्रांति के लिए जिस प्रकार की शक्ति की आवश्यकता है, रचनात्मक कार्य के विविध कार्यों द्वारा ही हम उसे अच्छी तरह पैदा कर सकते हैं। छोटी-छोटी लड़ाइयों में मनुष्य का तत्कालीन उत्साह दिखाई देता है, यह बात सही है; लेकिन इस प्रकार के उत्साह पर हम अधिक निर्भर नहीं रह सकते। साधारणतः अत्याचार का विरोध करने का जोश लोगों में आँधी की तरह आता है और आँधी की तरह चला जाता है। इसलिए

वे लोग दूसरों पर राष्ट्र-संचालन का दैनिक काम छोड़ देते हैं और परिस्थिति के बिलकुल बिगड़ जाने पर वे ही घबड़ाकर क्रांति करते हैं। फिर परिस्थिति बदलते न बदलते वे लोग फिर से शांत हो जाते हैं। जब तक ऐसी मनोभावना रहेगी, तब तक असली स्वराज स्थापित होना संभव नहीं है। स्वराज के महल को सिर्फ अविचल जाग्रत मनोभाव पर ही खड़ा करना संभव है।

गाँव को स्वावलंबी बनाने के प्रयत्न में सब प्रकार के सामाजिक वैषम्य और दुर्नीति को कानून के बदले जन-शिक्षा के द्वारा स्थायी रूप से मिटाने की चेष्टा में हम उसी स्वावलंबी मनोवृत्ति का सृजन करते हैं। स्वावलंबी, स्वयं-पूर्ण, सामाजिक भेदभावरहित गाँव हमारे भावी समाज के अंकुर हैं। वर्तमान अत्याचार दूर करने के लिए गाँव के लोगों को दलबद्ध करने के राजनैतिक उद्देश्य से मैं खादी की बात नहीं करता। खादी का लक्ष्य उसकी अपेक्षा महान् है। अठारह सूत्री रचनात्मक कार्य के द्वारा हम जिस स्वराज के आदर्श को मूर्तिमंत करना चाहते हैं, उसमें सब लोग आलस्य का त्याग करेंगे। बुद्धि को बेचकर कोई धंधा रोजगार नहीं करेगा। सभी शारीरिक श्रम का दायित्व स्वीकार करेंगे। धनी, गरीब कोई नहीं रहेगा। सभी अपनी-अपनी योग्यता को सबके कल्याण के लिए अपनी शक्ति के अनुसार काम में लायेंगे। तब सबका अधिकार समान होगा, अर्थात् दूसरे को कोई नुकसान पहुँचाये बिना सभी को अपने अंतर की वृत्तियों को विकसित करने का सुयोग मिलेगा।

गांधीजी यह भी कहते थे कि भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में यदि हम नाना प्रकार के खंड-खंड संग्रामों में लगे रहें, तो सारे भारत की जनता में एकता की भावना को जाग्रत करना अपेक्षाकृत कठिन होगा। हमारे रचनात्मक कार्यों की प्रवृत्ति में एक लक्ष्य स्थिर रखने की आवश्यकता है। हम भविष्य में जिस समाज की रचना करना चाहते हैं, उसके प्रति हमारी दृष्टि अटल रहे और हमारे सब काम उसीके अनुकूल हों, हमारी यही चेष्टा होनी चाहिए। रचनात्मक कार्य यदि निरवच्छिन्न रूप से चलता रहे, तो उसकी विरोधी शक्तियाँ

हमारी उदासीनता और सहयोग के अभाव में स्वतः नष्ट हो जायँगी, शायद अलग से विरोधी शक्तियों के साथ संग्राम करने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

अतः इसी दृष्टि को लेकर कार्यकर्ताओं को आगे बढ़ना होगा कि मैं भविष्य के आदर्श समाज का संगठन कर रहा हूँ और उसकी भित्तिस्वरूप मनुष्य की आत्मशक्ति की उद्‌बोधन के द्वारा सहायता कर रहा हूँ।

कार्यकर्ताओं को निर्देश

रचनात्मक कार्य के उद्देश्य को स्वीकार कर लेने के बाद कार्यकर्ताओं का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। जहाँ भी कोई कार्यकर्ता संगठन की चेष्टा करता है, वहाँ शुरू में उसे काफी परिश्रम करना पड़ता है, यह सच है। इस प्रकार की चेष्टा से उसे बहुत कुछ श्रेय प्राप्त होता है; लोग उसकी बात मानने लगते हैं, उसका यश बढ़ता है और संभव है, गुरुतर दायित्व सौंपकर लोग उसका सम्मान करते हैं। लेकिन इस विभूति के द्वारा वह बँध जाय, तो मूल वस्तु से उसकी दृष्टि हट जाती है और मनुष्य की आत्मशक्ति को जगाने की चेष्टा भी क्रमशः क्षीण होती जाती है। परमहंस देव योग-साधन के बारे में कहते थे कि योगी कुछ दिनों की साधना के बाद अणिमा, लघिमा आदि सब सिद्धियों का अधिकारी होता है। किन्तु यदि इस सिद्धि के लोभ को छोड़कर और आगे बढ़ने का साहस उनमें न हो, तो अंत में योगी का पतन अनिवार्य है।

देश-सेवा के बारे में भी यह कह सकते हैं। यह भी तो एक प्रकार की साधना है। इसमें हम सिर्फ अपनी सिद्धि नहीं चाहते, संसार के सब लोग दुःख का सागर पार करने में सफल हों, यही हमारा चरम लक्ष्य है। लेकिन इस पथ पर दूसरे का सहारा लेने से काम नहीं चलता। स्वराज्य के लिए उपयोगी आत्मशक्ति का विकास करते समय यदि हम खुद ऐश्वर्य में बँध जायँ, तो जनता की आत्मशक्ति कैसे जाग्रत होगी ? जो संस्थाएँ हमारी चेष्टा से बनी हैं, अंत में लोग हमें बिल्कुल अलग करके, हमें भूलकर हमारे बिना खुद ही अपने काम के लिए संस्था को चला सकें, यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। तभी हमारा काम पूर्ण होगा। हम अपने ज्ञान, बुद्धि, शक्ति और सामर्थ्य

द्वारा रचनात्मक कार्य में सहायता दें, यह तो ठीक है; लेकिन अंत में हमें बिल्कुल निश्चिह्न हो जाना है। मकान बनाने के समय मचान बनाना पड़ता है, लेकिन मकान बन जाने के बाद मचान का चिह्न भी नहीं रहता।

पानी का अपना कोई स्वाद नहीं होता, लेकिन उसमें जब मिसरी मिला दी जाती है, तो पानी मीठा हो जाता है। जब तक मिसरी का अस्तित्व स्वतंत्र रहेगा, पानी से उसे अलग रखेंगे; तब तक वह पानी में नहीं घुलेगा। हम भी यदि रचनात्मक कार्य में जनता से अपना अस्तित्व स्वतंत्र रखकर चलें, बाहर के रुपयों पर, बाहर के बाजार पर और बाहर की लोकशक्ति पर निर्भर रहें अथवा जनता में रहकर भी पदगौरव प्राप्त करके उनके ऊपर अपना आसन बनाएँ, तो मिसरी की डली की तरह हमारा स्वतंत्र अस्तित्व बना रहेगा। उस समय तक हम जनता से घुल-मिलकर उसका जीवन समृद्ध नहीं बना सकेंगे। एक बाउल गीत में कहा है :

प्रेमे जल हये जाओ ग'ले,
कठिने मेशे ना से।
मेशे से तरल ह'ले॥*

यही हमारे रचनात्मक कार्य का मूलमंत्र होना चाहिए, तभी शायद संसार के दरिद्र और अभावग्रस्त लोग किसी दिन सचमुच मुक्ति का आस्वाद पाने में समर्थ होंगे।

एक प्रश्न

आप शायद कहें कि क्या उद्देश्य लेकर रचनात्मक कार्य में अग्रसर हों, यह मान लो हमने समझ लिया; लेकिन हम जो कुछ चाहते हैं, वह क्या हमेशा हमें मिलता है? तरह-तरह के विघ्न आ खड़े होते हैं, उनमें से कोई

---

* प्रेम से गलकर जल बन जाओ,
कठिन रहोगे जब तक तब तक नहीं मिलेगा राम।
जब गलकर तुम तरल बनोगे झट पाओगे राम॥

भीतर के होते हैं, कोई बाहर के। एक-एक करके इनकी मीमांसा होना जरूरी है। आज पहले एक प्रश्न करता हूँ।

प्रश्न यह है कि १३५० बंगाब्द (सन् १९४४) में जब बंगाल में अकाल पड़ा, तो लोगों को ३०-४० रुपये देने पर भी एक मन चावल नहीं मिलता था। बाजार में पहनने को कपड़े का टुकड़ा भी नहीं मिलता था, उस समय चरखे की तरफ ध्यान देना शायद स्वाभाविक था। लेकिन चीजों के सस्ते होने पर क्या लोग चरखा उठाकर नहीं रख देंगे? हम यदि जिद करके तब भी चरखे द्वारा कपड़े तैयार करें, खेती द्वारा खाने की व्यवस्था कर लें, तो अन्यान्य देशों में कितने कम परिश्रम से मशीनों की सहायता से लोग खाने-पहनने की व्यवस्था कर रहे हैं, यह देखकर क्या हम विचलित नहीं होंगे? ऐसी अवस्था में चरखे के प्रति हमारा प्रेम क्या कभी टिक सकता है?

इसके उत्तर में पहले ही कह देना जरूरी है कि गांधीजी जब स्वयं पूर्ण ग्राम-संगठन की बात कहते थे, उसका अर्थ यह नहीं था कि लोग बाहर की दुनिया की तरफ आँख फिराकर देखें ही नहीं, केवल कोल्हू के बैल की तरह आँखों पर पट्टी बाँधे मोटे चावल और मोटे कपड़े की घानी के चारों ओर अन्धे की तरह सदा चक्कर काटते रहें। आज दुनिया में तरह-तरह के कल-कारखाने चल रहे हैं, चीजें तैयार करने में पहले की अपेक्षा कम परिश्रम लगता है, ये सब बातें सच हैं। लेकिन कल-कारखानों से एक विघटन हो गया है। पहले मनुष्य के खाने-पहनने का काम बहुत कुछ उसके स्वाधीन था। शासक-वर्ग जनता पर अत्याचार करने पर भी देशभर के लोगों को अन्न-वस्त्र के अभाव में मृत्यु के द्वार तक नहीं ठेल सकता था। लेकिन यंत्र-युग की व्यवस्था ही ऐसी है कि देश के सब लोगों के खाने और पहनने की, यहाँ तक कि जीने की चाबी ही शहरी बाजार के निवासी कुछ शक्तिशाली लोगों के हाथ में आ गयी है। जो लोग धन-बल और बुद्धि-बल में बलवान् हैं, जिनके पास अस्त्र-बल होने के कारण सारे शासन का भार हाथ में आ

गया है, उनके हाथ में अब सारे देश की जीवन-किल्ली और मृत्यु-किल्ली दोनों ही आ गयी हैं। उनकी इच्छा हो और आदमी भले हों, तो वे दूसरों को यंत्र-युग की सुविधा का कुछ अंश प्रसाद के रूप में दे देते हैं। किन्तु यदि वे स्वयं संकट में हों, तो जरूरत के मुताबिक सारे देश के लोगों को कठपुतली की तरह जब चाहें, तब उठायें, बैठायें, लड़ाई करवायें और जब जैसी जरूरत हो, वैसी बात बुलवा सकते हैं।

यह हालत सिर्फ भारतवर्ष, चीन या अफ्रीका के अधिवासियों तक ही सीमित हो, सो बात नहीं है। इंग्लैंड-अमेरिका जैसे धनवान् देशों में गरीबों का अधिकार एक ही तरह का है। नाम को उनका वोट है, वे पार्लमेंट में प्रतिनिधि भेज सकते हैं; लेकिन अपने जीवन पर खाने-पहनने पर जिस प्रकार हमारे देश में जनता का कोई अधिकार नहीं है, इंग्लैंड-अमेरिका में भी नहीं है।

इस परिस्थिति से बचने के लिए हमें फिलहाल अपने खाने-पहनने की व्यवस्था अपनी कोशिश द्वारा करनी पड़े और वह व्यवस्था सचमुच ही हमारे अपने आधीन हो, तो क्या यह कम बात है? पराधीन स्थिति में कोई दिन सुख से कटता है, कोई दुःख से। किंतु शक्तिशाली लोगों के प्रसाद की भिक्षा की अपेक्षा स्वाधीनतापूर्वक, कुछ अधिक परिश्रम करके जीवन-यापन करना क्या अच्छा नहीं है? स्वाधीनता क्या अमूल्य संपत्ति नहीं है?

सम्भव है, आप कहें कि इसका प्रयोजन क्या है? धनोत्पादन के सब साधन आज कुछ लोगों की व्यक्तिगत संपत्ति बन रहे हैं, इसीलिए आज इतना दुःख और दुर्दशा है। वे ही साधन यदि सर्वसाधारण के अधिकार में आ जायँ, पंचायत के अधीन मासिक वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा परिचालित हों, तो फिर आज की असुविधाएँ नहीं भोगनी पड़ेंगी।

गांधीजी इसके उत्तर में कहेंगे कि ठीक है। मैं भी जीवन-निर्वाह के लिए उपयोगी सब चीजों को सर्वसाधारण की संपत्ति बनाना चाहता हूँ। लेकिन उन्हें व्यक्ति के अधिकार से छुड़ाकर, सर्वसाधारण की संपत्ति करने

का रास्ता मेरा स्वतंत्र है। सरकार की शक्ति की सहायता से इस क्रांति को करने की अपेक्षा जनता के अहिंसक-असहयोग के द्वारा लायी हुई क्रांति से मैं यह परिवर्तन लाना चाहता हूँ। धनोत्पादन के उपादानों को भी अंत में सरकार के अधिकार में रखने की अपेक्षा मैं पंचायत के अधिकार में रखने का पक्षपाती हूँ।

सरकार और पंचायत के मूल में जो भेद मुझे दिखाई देता है, वह बताता हूँ। पंचायत के हाथ में मनुष्य शुभबुद्धि के वशीभूत होकर अधिकार सौंप देता है। शासन करने का अस्त्र उसके हाथ में सामान्य-सा होता है, लोगों को राजी करके ही पंचायत बहुत कुछ काम करवाती है। लेकिन सरकार के हाथ में दमन की शक्ति असीम होती है। जो लोग सरकार चलाते हैं, वे दमन से या सरकार का भय दिखाकर ही काम निकलवा लेते हैं। इस दमन के विरुद्ध ही मेरी विशेष आपत्ति है। मनुष्य को जीवित रखना हो, तो समाज बनाना पड़ता है, संस्थाएँ खड़ी करनी पड़ती हैं। लेकिन वे संस्थाएँ ऐसी होनी चाहिए, जिनका अवलम्ब प्रधानतः दमन पर न हो। ऐसी संस्था के हाथ में यदि धनोत्पादन की व्यवस्था सौंप दी जाय, तो अच्छी ही बात है। मनुष्य के भोजन-वस्त्र के उपकरणों पर किसी व्यक्ति की मालिकी होना उचित नहीं है। प्रकृति के जल और वायु पर जिस प्रकार सब लोगों का समान अधिकार होना उचित है, उसी प्रकार इस पर भी होना चाहिए।

पंचायत के हाथ में यदि मालिकी का अधिकार सौंप दिया जाय, तो सारी समस्या हल हो जायगी, ऐसी बात कोई नहीं कहता। इसीलिए मैं चाहता हूँ कि जनता जैसे भी हो, सब अवस्थाओं में केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों को शासन और संयम में रख सके। स्वाधीनता का मूल अर्थ मैंने यही समझा है कि जहाँ मनुष्य समाज का कार्य निर्वाचित प्रतिनिधियों की सहायता से चलाता तो है, लेकिन शक्ति के दुरुपयोग को संयत करने की शक्ति को हमेशा अपने हाथ में रखता है। मोटे भोजन-वस्त्र की व्यवस्था मनुष्य कभी भी दूसरे के हाथ में न सौंपे, तभी हो यह संभव होता है।

इसके बाद सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के जितने कल-कारखानों की सचमुच आवश्यकता हो, उन्हें केन्द्रीय पंचायत के हाथ में देने में भी कोई आपत्ति नहीं है। विश्व के कल्याण के लिए विभिन्न देशों की जनता अपनी ओर से यदि कोई केंद्रीय व्यवस्था करे, तो इसमें भी कोई बुराई नहीं है। वस्तुतः जगत् के सब चिंतनशील व्यक्ति ही भविष्य के लिए ऐसे ही एक आदर्श के बारे में सोचते हैं, जहाँ प्रत्येक देश सारी मानव-जाति के कल्याण को लक्ष्य में रखकर आपस में सहयोग करेंगे। केंद्रीकरण से मैं नहीं डरता, फिर भी वह केंद्रीकरण स्वेच्छा और बराबरी का होगा और सद्बुद्धि के द्वारा शासित होगा। जो केंद्रीकरण असमान शक्तियों में दमन के द्वारा गठित होता है, उसके समान भयावह वस्तु और कुछ हो नहीं सकती। विकेंद्रीकरण के रस द्वारा ही उसे जीर्ण करके मंगलजनक पदार्थ में परिणत करना संभव है।

तो, पहले प्रश्न का उत्तर यही ठहरा कि मनुष्य साधारणतः कम परिश्रम का मार्ग खोजता है, मोटा खाना और मोटा पहनने की व्यवस्था वर्तमान अवस्था के विरुद्ध अपने अधीन करना यद्यपि यथेष्ट श्रमसाध्य है, फिर भी सचमुच के स्वराज्य की साधना के लिए मनुष्य को यह करना ही पड़ेगा। स्वाधीनता नाम की वस्तु जिस प्रकार दुर्लभ है, उसका मूल्य भी उसी प्रकार अधिक है। हठात् दो दिन की झोंक में संभव है, एक दल के लोगों को शासन के आसन से भगाकर और दूसरे मनोनुकूल दल को वहाँ बैठा दिया जाय। किंतु यदि जनता उसके हाथ में जीवन-मरण का सारा भार सौंप दे और इस प्रकार उसे संयत रखने का अधिकार खो बैठे, तो केंद्रीय शक्ति के दुरुपयोग करने में विलंब नहीं होगा। असंयत शक्ति की मादकता से भले आदमी भी बुरे हो जाते हैं। इसीलिए चाहे आर्थिक शक्ति हो, चाहे राष्ट्रीय शक्ति हो; उसे यथासंभव बिखरी हुई रखना ही अच्छा है। विकेंद्रीकरण की प्रधान युक्ति यही है। जनता की स्वराज्य-साधना के साथ इसका ऐकांतिक रूप से अंगांगी संबंध है।

● ● ●

गांधीवाद की परीक्षा : ४ :

पाठक—हम मान लेते हैं कि लोग स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए रचनात्मक कार्य द्वारा अपने भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध करने के लिए राजी हो जाते हैं। लेकिन संसार के प्रत्येक देश में धनिक-वर्ग ने जिस प्रकार आर्थिक जीवन को संपूर्ण रूप से अपने हाथ में कर रखा है, उसके विरुद्ध क्या जनता के लिए खड़ा होना संभव है ? क्या राजशक्ति के द्वारा मुक्ति की चेष्टा को विफल नहीं किया जा सकता ? जैसे, भारत में सन् १९४२ में सभी जगह खादी का काम सरकारी दबाव से बिल्कुल रुक गया था।

लेखक—धनिक-वर्ग की रुकावट भयानक है, इसमें संदेह नहीं। लेकिन सब तरह की रुकावटों के बावजूद जनता को आर्थिक मुक्ति के लिए रचनात्मक कार्य द्वारा प्रयत्न करना ही होगा।

पाठक—वह हो सकेगा या नहीं, इसका कोई ठिकाना नहीं। दीवाल से सिर टकराने से क्या मनुष्य आगे बढ़ जाता है ?

लेखक—आप क्या करने के लिए कहते हैं ? आपकी बात जरा सुन लूँ, तो मैं अहिंसक उपाय बताने की चेष्टा करूँ।

पाठक—मुझे ऐसा लगता है कि नयी आर्थिक व्यवस्था बनाने के बजाय पहले राजशक्ति पर अधिकार करने की चेष्टा करना उचित है, क्योंकि राजशक्ति समाज की अन्य सब शक्तियों की मूलाधार है।

लेखक—लेकिन जनता उस शक्ति पर अधिकार कैसे करेगी ?

पाठक—जनता में शिक्षा और दक्षता नहीं है, इसीलिए संग्राम चलाने के लिए एक पार्टी की आवश्यकता है। वह पार्टी आंदोलन को दक्षता के साथ चलाकर जनता की ओर से सरकार पर कब्जा कर लेगी। इसके बाद समाज में और बाहर जो सब बाधाएँ और विपत्तियाँ हैं, उन्हें दूर करने

की चेष्टा करेगी। उनके निर्मूल हो जाने पर संसार में सर्वत्र नया समाज और नया जीवन गढ़ने का समय आयेगा, उसके पहले नहीं। इसके लिए सामाजिक शक्ति के विकेंद्रीकरण करने से काम नहीं चलेगा, बल्कि समस्त आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक नियंत्रण-व्यवस्था को ऐकांतिक रूप से केंद्र में संग्रहीत करना पड़ेगा। नहीं तो नया समाज अंकुर में ही नष्ट हो जायगा और हमारा आदर्श मरीचिका की तरह विलीन हो जायगा।

लेखक—आपकी यह बात सही है कि राजशक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए गांधीजी अराजकतावादियों की तरह राजशक्ति के बारे में उदासीन नहीं रह सकते। वे आदर्शवादी होने पर भी असल में कर्मयोगी हैं।

लेकिन समाज में राजशक्ति ने जो आसन जमा रखा है, वह तो मनुष्य की बनायी हुई ही चीज है। मनुष्य राजशक्ति के भय से त्रस्त है। इसके अलावा समाज के सब प्रकार के नियंत्रण के लिए उसने जो व्यवस्थाएँ रची हैं, उन्हें भी उसने राजशक्ति के अधीन कर रखा है। इसीलिए तो शासन के हाथ में इतनी सत्ता है।

पाठक—लेकिन इसके अलावा उपाय ही क्या है? राजशक्ति की सहायता के बिना मनुष्य क्या समाज की किसी संस्था को बचा सकता है?

लेखक—आपकी बात युक्तिसंगत है। आत्मरक्षा का उपाय यदि मनुष्य के अपने हाथ में न हो, तो उसके लिए शासन के अधीन हो जाने के सिवा कोई गति नहीं है, यह बात सही है। इस बारे में आपने क्रांति के जिस मार्ग की ओर इशारा किया है, उसे भी ठीक मानना पड़ेगा। लेकिन गांधीजी आत्मरक्षा की शक्ति को प्रत्येक मनुष्य के अधिकार में लाना चाहते हैं और साथ ही साथ समाज की आर्थिक और अन्य प्रकार की नियंत्रण-व्यवस्था को भी सरकार के हाथ से छुड़ाना चाहते हैं। उनके विचार से अहिंसक असहयोग द्वारा पहली बात और रचनात्मक कार्य द्वारा दूसरी बात संभव होगी।

पाठक—सरकार के बारे में जरा स्पष्ट करके कहिये, बात ठीक समझ में नहीं आयी।

लेखक—गांधीजी चाहते हैं कि क्रांति की सूचना से ही हम मनुष्य के जीवन को सरकार के प्रभाव से यथासंभव मुक्त करेंगे। आज के सब प्रकार के विघ्नों के बावजूद यदि साधारण जनता के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था आंशिक रूप से ही अपने अधिकार में लेना संभव हो, तो यह कम बात नहीं है।

पाठक—लेकिन आंशिक रूप से भी यह कर सकना क्या संभव है ? सरकारी अधिकारी जब देखेंगे कि साधारण लोग अधिक मात्रा में स्वाधीन हो रहे हैं, तभी वे जनता की सस्थाओं को कुचलकर समाप्त कर देंगे। सरकार यदि कृपापूर्वक रुकावट न डाले, तो रचनात्मक कार्य द्वारा संभव है, थोड़ी-बहुत आर्थिक मुक्ति हो सके।

लेखक—यह बात कुछ अंश में सही है। इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि केवल रचनात्मक कार्य द्वारा स्वराज्य-साधना को अंतिम चरण तक पहुँचाना शायद कार्यतः हमारे लिए संभव न हो और सरकार को अपने अधिकार में करने के लिए कानून भंग या या शांत प्रतिरोध की भी आवश्यकता हो सकती है।

पाठक—तब तो आरंभ से वही प्रयत्न करना अच्छा है। झूठ-मूठ को रचनात्मक कार्य के पीछे समय अथवा शक्ति नष्ट करने से क्या लाभ है ?

लेखक—लाभ है। जनता यदि अपने प्रयत्न से एक आनाभर भी आर्थिक मुक्ति प्राप्त कर सके, गाँव यदि भोजन-वस्त्र की व्यवस्था सामूहिक प्रयत्न द्वारा थोड़ी-बहुत खड़ी कर सके, तो जनता के मन में आत्मविश्वास दृढ़ होगा। धन-उत्पादन या वितरण की कौनसी व्यवस्था सबके लिए कल्याणकर है, इसके बारे में जनता कार्यतः जानकारी प्राप्त करेगी और यदि शांत प्रतिरोध करना ही पड़े, तो रचनात्मक कार्य द्वारा उसे नयी शक्ति मिलेगी। आंदोलन को नष्ट करने के लिए विरोधी शक्ति गाँवों को अन्न के बिना भूखा नहीं मार सकेगी।

इन्हीं सब कारणों से गांधीजी रचनात्मक कार्य पर इतना अधिक जोर देते हैं।

पाठक—संभव हो, तो इसमें आपत्ति करने जैसी कोई बात नहीं है। एक सवाल मन में उठ रहा है, पूछूँ ?

लेखक—पूछिये।

पाठक—अच्छा, आप तो सरकार को पूर्ण रूप से समाप्त करना चाहते हैं।

लेखक—नहीं, सा बात नहीं है। सरकार को जनता के अधिकार में लाकर असली गणतंत्र की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं।

पाठक—वह तो हम भी चाहते हैं, तब अन्तर कहाँ है ?

लेखक--अन्तर बहुत है। आप लोग सोचते हैं कि भविष्य में एक दिन सरकार संसार से संपूर्ण रूप से लोप हो जायगी और उस अवस्था को लाने के लिए आप लोग सामयिक तौर पर वंचित सर्वहारा के हाथ में राजसत्ता लाकर उसे सर्वशक्तिमान् करना चाहते हैं। लेकिन गांधीजी राजशक्ति का संपूर्ण रूप से लय चाहते हुए भी सोचते हैं कि जब तक पृथ्वी पर मनुष्य-समाज है, तब तक शायद राजशक्ति की भी आवश्यकता रहेगी। इसीलिए आज से ही हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि किस प्रकार स्वेच्छा से निर्माण की हुई संस्थाएँ संसार में बढ़ा दी जायँ और सरकार की नियंत्रण करने की शक्ति को कम किया जाय। जितनी राजसत्ता के बिना काम नहीं चल सकता, उसे भी दोष-मुक्त करने के लिए गणतंत्र की प्रतिष्ठा करनी होगी। ध्वंस करना उनका लक्ष्य नहीं है।

पाठक--अच्छा, संस्था का विध्वंस करना लक्ष्य न होने पर भी आज के शक्तिमानों के हाथ से तो आप शक्ति छीन ही लेना चाहते हैं ? अहिंसा से कम-से-कम इतना किया जा सकता है क्या ?

लेखक--छीन लेना चाहते हैं, यह कहना ठीक नहीं। इसके भेद को जरा विशद रूप से बताने दीजिये। रचनात्मक कार्य या कानून भंग के द्वारा

जनता वर्तमान शासकों के विरुद्ध या राजसत्ता के साथ जब सहयोग तोड़ना चाहती है, तब विध्वंस करना ही उसका लक्ष्य नहीं होता। शासक-वर्ग का उच्छेद करना ही यदि उसका लक्ष्य होता, तो विरोधी पक्ष को कितनी जल्दी विनष्ट किया जाय, इसी ओर ज्यादा ध्यान रहता है। लेकिन इस बारे में गांधीजी का दृढ़ निषेध है।

पाठक—तब आपका उद्देश्य क्या है ?

लेखक—हम भी विनष्ट करना चाहते हैं, लेकिन केवल संस्था के अमंगलकारी रूप को। समाज की सभी संस्थाएँ जनता के सहयोग पर अवलंबित हैं, फिर वह सहयोगिता भले ही प्रेम से आये अथवा भय या लोभ के कारण आये। किसी संस्था को जब हम बुरा समझने लगते हैं, तो उससे अपने आश्रय को क्रमशः संकुचित कर देते हैं। जो लोग संस्थाएँ चलाते हैं, उनके विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से मेरी कोई शिकायत नहीं है। लेकिन स्वार्थ पर आघात लगने से अथवा भ्रांत आदर्शनिष्ठा के कारण वे असहयोगियों पर अत्याचार करना आरम्भ करते हैं। असहयोग जितना व्यापक होता है, उत्पीड़न और जुल्म की मात्रा भी उतनी ही बढ़ती है। हम यदि किसी भी प्रकार धैर्य न खोयें, अपने आदर्श पर अविचल रहें, तो अंत में विरोधी पक्ष के हृदय में आश्चर्यजनक चोट लगेगी और वे लोग हमारे दावे पर सोचने के लिए तैयार होंगे।

ऐसी स्थिति में हम दोनों मिलकर पुरानी संस्था के बदले सबके लिए कल्याणकर नयी संस्था किस प्रकार गढ़ी जाय, इसीकी चेष्टा करेंगे।

पाठक—अच्छा, तब अहिंसात्मक और हिंसात्मक असहयोग में क्या यही अन्तर है कि हिंसा के द्वारा जिस प्रकार शोषण-यंत्र के कर्णधारों का उच्छेदन किया जाता है, अहिंसा के द्वारा उन्हीं लोगों को सहकर्मी बना लिया जाता है ?

लेखक—आप ठीक कह रहे हैं।

पाठक—यदि ऐसा हो, तब तो आपत्ति का कोई कारण नहीं है, लेकिन

काम कुछ संभव नहीं दिखाई देता। जो लोग शक्ति के अधिकारी हैं, स्वार्थ से अंधे हैं, उनके हृदय का परिवर्तन होना भय से ही संभव है, प्रेम से नहीं।

लेखक—भय से हृदय का कोई परिवर्तन होता है, यह बात कैसे स्वीकार की जा सकती है? जब हम स्कूल के छात्रों को भी मारकर नहीं बदल सकते, तो क्या यह सम्भव है कि आप हजारों लोगों के हृदय को प्रहार से बदल देंगे? जो आज परास्त होगा, वह भी तो बदला लेने की कोशिश करेगा! और किसके हाथ में कितना अस्त्र-बल होगा, यह इस विज्ञान के युग में क्या कोई पहले ही से कह सकता है? हिंसा के रास्ते का कोई अंत है, ऐसा तो हमें नहीं लगता।

पाठक—अच्छा हो, यह प्रश्न इस समय न उठायें। पहले आपके सत्याग्रह के बारे में ही अच्छी तरह समझ लिया जाय। आपसे मैंने पूछा था कि सरकार के विरोध के कारण क्या रचनात्मक कार्य ज्यादा आगे बढ़ सकता है? उत्तर में आपने कहा था कि जहाँ तक संभव हो, उतनी दूर आगे बढ़ाना जरूरी है। इसके बाद सरकार को कानून भंग या असहयोग द्वारा पंगु कर देना होगा।

आप सरकार के वर्तमान अधिकारियों के हृदय को प्रेम के द्वारा या भय के द्वारा परिवर्तित करना चाहते हैं, यह प्रश्न अवांतर है। इस समय प्रश्न यह है कि जब तक वह परिवर्तन नहीं होता, तब तक सरकार के विरोध के सामने खड़े होकर जनता की संस्था की आत्मरक्षा करनी होगी। क्या यह हो सकेगा?

लेखक—आत्मरक्षा का प्रश्न ही मूल प्रश्न है। इस प्रश्न की विस्तार से आलोचना होना जरूरी है। गांधीजी ने कई बार इसका उत्तर देने की चेष्टा की है और संगठन के भी तरह-तरह के उपाय बतलाये हैं। उनके बारे में कहने से पहले आपका मत भी जरा सुनना चाहता हूँ।

आपके मत से राष्ट्र की पुंजीभूत शक्ति के विरुद्ध जनता के लिए बचने का उपाय क्या है? हम तो प्रत्येक देश में रचनात्मक कार्य की मदद से

मनुष्य को आंशिक रूप से राजशक्ति की दासता से मुक्त करके सरकारी शक्ति को संकुचित करना चाहते हैं। लेकिन आप विकेंद्रीकरण में विश्वास नहीं करते। सरकारी शक्ति यदि सर्वशक्तिमान् रह जाय, मनुष्य के भोजन-वस्त्र, जीवन-मरण पर यदि उसका समस्त अधिकार अक्षुण्ण रहे, तब तो जनसाधारण के लिए आत्मरक्षा करना क्या और भी कठिन नहीं हो पड़ेगा ?

पाठक—नहीं, उसका उपाय है। किसी एक देश में संभव है, जनता राजशक्ति से पराजित हो जाय। लेकिन आज दुनिया का कोई देश भी अकेला नहीं रह सकता, न अकेला चलता है। दुनिया के सब देशों की शोषित सर्वहारा जनता को भी इसी तरह अकेले-अकेले विच्छिन्न रूप से चलने देना उचित नहीं होगा। यह जनता मिलकर काम करे, तो उसके बचने की आशा है, नहीं तो पराजय अवश्यंभावी है।

प्रत्येक देश में सर्वहारा जनता की सम्मिलित शक्ति सरकार पर आघात करने की चेष्टा करेगी और दंडशक्ति को अपने अधिकार में करने की चेष्टा करेगी। संभव है, उसकी बार-बार पराजय हो। संभव है, वह भारतवर्ष में परास्त हो जाय; लेकिन चीन या स्पेन में परिस्थिति और घटना के सुयोग से उसकी विजय हो। तब भारत फिर आगे बढ़ जायगा। कारण, पुंजीभूत राजशक्ति दुनिया के किसी भी देश में परास्त हो, तो सभी जगह उसकी सत्ता क्षीण हो जाती है, यह सही है।

लेखक—आपने विश्व-विप्लव का जो आभास दिया है, उसके बारे में एक समस्या तो रह ही जाती है। हाँ, वह सब प्रकार के हिंसात्मक संग्रामों के अवसर पर मन में उठती है। आप जिस विप्लव की बात कर रहे हैं, उसे सफल करने के लिए पृथ्वी में कहाँ क्या घट रहा है, कब आघात करने का समय हुआ, कब नहीं हुआ, इस बारे में जानकार एक राजनैतिक दल की ऐकांतिक आवश्यकता है। वह कर्णधार होकर जनशक्ति का यदि नियंत्रण न करे, तो सारा प्रयत्न विफल हो जायगा। लेकिन विप्लव के बाद यही शक्तिशाली नियंत्रकों का दल शक्ति हस्तांतरित करेगा, इसका क्या ठिकाना है ?

बुद्धि बल के द्वारा जनता को पंगु बनाकर शक्ति की फसल अपने लिए संग्रह करने की संभावना क्या बिल्कुल नहीं है ?

पाठक—यह असंभव नहीं है, लेकिन जो सचमुच ही क्रांति चाहते हैं, वे भी तो चुपचाप नहीं बैठे रहेंगे। भ्रष्ट क्रांतिकारियों के हाथ से शक्ति छीनने के लिए वे ही तब जनता की सहायता करेंगे।

लेखक—अच्छा, क्रांति का जननायक यदि व्यभिचारी हो, तब तो सारी क्रांति को लक्ष्यभ्रष्ट कर सकता है ?

पाठक—कर ही सकता है।

लेखक—तब तो यह अच्छी बात नहीं है। बाढ़ के पानी में घास-फूस बह जाते हैं। लेकिन यदि घास-फूस की अधिकता से नदी की गति तक बदल जाय, तब तो क्रांति को सफल करना एक बड़ा ही कठिन काम है। कुछ क्रांतिकारी नेता पथभ्रष्ट नहीं होंगे, और यथेष्ट कौशल के अंत तक भ्रष्टाचारी नेताओं के चक्कर से जनता की रक्षा कर सकेंगे, यही विश्वास तब तो आपका अंतिम विश्वास है।

पाठक—लेकिन इसकी अपेक्षा कोई अच्छा मार्ग दिखा सकते हैं ?

लेखक—अहिंसक असहयोग को सफल बनाने के काम में जनता का उद्यम और आत्मनियंत्रण ही प्रधान वस्तु है। पार्टी का नियंत्रण पहले रहने पर भी बाद में अर्थात् क्रांति जब घनीभूत हो जायगी, तब उसे ज्यों का त्यों रख सकना संभव भी नहीं है, उसकी आवश्यकता भी नहीं है। अहिंसक असहयोग का गुण ही ऐसा है कि इसमें नियंत्रण-शक्ति को केंद्र में पुंजीभूत करने की अधिक आवश्यकता नहीं होती। थोड़ा-बहुत जो केंद्र से परिचालन करना पड़ता है, वह भी शासन के द्वारा नहीं; बल्कि समझा-बुझाकर लोगों को राजी करके किया जाता है। राजी न होने पर जो लोग दूर हट जायँगे, वे आन्दोलन को हानि नहीं पहुँचा सकते। गांधीजी कहते हैं कि अंत तक एक सच्चा सत्याग्रही भी बचा रहे, तो विजय अवश्य होगी। कारण, उसे केंद्र बना करके समाज की शुभशक्ति फिर से रूप ले लेती है।

पाठक—यदि तर्क की दृष्टि से यह मान भी लें कि अहिंसक असहयोग के द्वारा जनता किसी छोटे से देश में शासक-वर्ग के हाथ से कुछ समय के लिए शासन-सत्ता छीन सकती है, फिर भी प्रबल बाह्य शत्रुओं के आक्रमण का वह कैसे प्रतिरोध करेगी, यह बात तो स्पष्ट नहीं हुई। देश के भीतर का पराजित शासक-वर्ग बाहर की शक्ति की सहायता लेकर जनता को परास्त करने की अवश्य चेष्टा करेगा और ऐसी सहायता देनेवाली शक्ति का भी अभाव नहीं होगा।

लेखक—देश का पराजित शासक-वर्ग यह चेष्टा क्यों करेगा? नयी समाज-रचना में उसे भी तो नयी मर्यादा का आसन मिलेगा, पराजय की ग्लानि उसके मन में हम आने ही नहीं देंगे।

हाँ, यदि उनके चित्त का सम्यक् परिवर्तन न हो और राजशक्ति इस बीच देश की जनता के अधिकार में आ पड़े, तब तो बाहरी शत्रु का आक्रमण असंभव नहीं है और उस अवस्था में आत्मरक्षा का उपाय यदि न हो, तब तो गांधीजी का आदर्श किसी दिन भी जगत् में प्रतिष्ठित नहीं होगा, यह मानता हूँ। आत्मरक्षा का प्रश्न एक तरह से मूल प्रश्न है।

आपने यह कहा है कि जगत् की सम्मिलित पूँजीवादी शक्ति के विरुद्ध सर्वहाराओं के एक होने पर ही उनकी विजय संभव है। किन्तु प्रश्न यह है कि एक होने पर भी सरकार के अधिकार से वे अस्त्र-बल छीन सकेंगे? आज विज्ञान के नये-नये आविष्कारों के फलस्वरूप मनुष्य की हत्या करने की क्षमता क्या जगत् के मुट्ठीभर लोगों के हाथ में नहीं चली गयी? जिन देशों के हाथ में यथेष्ट लोहा, तेल या युरेनियम है, केवल उन्हींके लिए स्वाधीनता की रक्षा करना सम्भव है। अतएव अस्त्र-बल पर निर्भर रहने से जनता की मुक्ति की सम्भावना कहाँ है?

पाठक—हाँ, आज दुनिया की जो हालत है, उसमें वास्तव में किसी न किसी शक्तिशाली जाति के साथ मित्रता किये बिना बचने का उपाय नहीं है। रूस को इसीलिए इंग्लैंड और अमेरिका जैसे पूँजीवादी देशों के

साथ संधि करनी पड़ी थी। वास्तव को अस्वीकार करने से तो लाभ नहीं है, नहीं तो फासिस्ट राक्षसों के उत्पीड़न से जगत् का एकमात्र समाजवादी देश निश्चिह्न हो जाता।

लेखक—लेकिन क्या मित्रता करने से रूस को अपने आदर्श से पीछे नहीं हटना पड़ा ?

पाठक—अस्थायी तौर से ऐसा होने पर भी यह स्थायी अवस्था नहीं है। प्रत्येक देश में समाजवादी शक्ति बढ़ रही है और जगत् में सब जगह पूँजीवाद को दुर्बल कर रही है। किन्तु जब तक सब देशों में समाजवाद की स्थापना नहीं होती, तब तक रूस ने जिस पथ का अवलंबन किया है, उसी पथ को ठीक समझता हूँ।

लेखक—लेकिन रूस अन्यान्य देशों की समाजवादी शक्तियों को बढ़ाने के बजाय तीसरी अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी संस्था को ही तोड़ देने के लिए बाध्य हुआ है।

अच्छा, यह बात जाने दो। आपकी बात से यह बात समझ में आती है कि यदि प्रत्येक देश में जन-शक्ति जाग्रत हो, देश का अस्त्र-बल उसके हाथ में आये, तभी आपका आदर्श प्रतिष्ठित होने की संभावना है।

पाठक—आप ठीक ही कह रहे है। लेकिन इसमें असुविधा कहाँ है ?

लेखक—असुविधा तीन-चार हैं। एक तो यह कि दुनिया के मारणास्त्र जिन मुट्ठीभर लोगों के हाथ में हैं, उनके हाथ से जनता उन्हें कैसे छीन सकेगी, इसका रास्ता नहीं दिखाई देता। दूसरे, उस मंडली में वैज्ञानिकों का हृदय यदि जनता के प्रति सहानुभूति-संपन्न हो, तब तो जनता को कुछ सुविधा हो सकती है। लेकिन उस हृदय का परिवर्तन सिर्फ अनुरोध या प्रचार के द्वारा कैसे संभव है, यह समझ में नहीं आता। तीसरे, भविष्य में चाहे जो कुछ हो, लेकिन रूस जैसे शक्तिशाली देश को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समाजवाद के आदर्श से कुछ पीछे हटना पड़ा है, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। कितने दिनों तक उसे इस प्रकार चलना होगा, यह भी कोई नहीं कह सकता।

चौथे, आज यदि भारतवर्ष या दूसरे किसी देश की जनता में स्वाधीनता की असली आकांक्षा जागे, तब भी अस्त्र-शक्ति के ऊपर ही सब कुछ निर्भर है। इससे उसकी चेष्टा अनिश्चित काल के लिए व्यर्थ हो जायगी।

पाठक—आप तब तो वास्तव को किसी भी तरह स्वीकार करना नहीं चाहते।

लेखक—नहीं, चाहता क्यों नहीं ? वास्तव को स्वीकार करते हैं, इसीलिए गांधीजी मनुष्य को अस्त्र का सहारा न लेकर बचने का एक नया कौशल सिखाने की चेष्टा कर रहे हैं; और वह अगर सफल हो, तो दुनिया के छोटे राष्ट्र हों चाहे बड़े राष्ट्र, थोड़े लोग हों या ज्यादा लोग हों, शत्रु प्रबल हो चाहे दुर्बल हो, मनुष्य अपने न्यायसंगत अधिकार की रक्षा कर सकेगा। किसी भी अन्यायपूर्ण अधिकार को मनुष्य अहिंसा के द्वारा पा भी नहीं सकेगा, उसकी रक्षा भी नहीं कर सकेगा। लेकिन जो अधिकार दूसरे को वंचित किये बिना भोगा जाता है, उसकी रक्षा अहिंसक कुशलता से दुर्बलतम रुग्ण व्यक्ति भी सफलता के साथ कर सकेगा।

पाठक—आप तो जोश में आ गये ! जनता यह कैसे कर सकेगी, यही बताइये। इतनी देर से केवल यही बात तो आपसे पूछ रहा हूँ। आप तो शुरू से ही लगातार चालू रास्ते के दोष दिखाने में व्यस्त हैं।

लेखक—नहीं, दोष दिखाना मेरा उद्देश्य नहीं है। आपके रास्ते से साधारण लोग सच्चा स्वराज्य पा सकते हैं या नहीं, इसीकी खोज कर रहा था। आपने जगत् में समाजवादी क्रांति करने का जो उपाय बताया है, उस रास्ते से भी ऐसा लगता है कि बार-बार पराजय होने पर भी अदम्य उत्साह के साथ संग्राम और संगठन करते रहना होगा। क्षणिक पराजय से डरेंगे नहीं, अंत में विजय अवश्यम्भावी है, इसी विश्वास पर अटल रहना होगा। मन यदि अपराजित रहे, तो दूसरी सब बाधाएँ क्रमशः तिरोहित हो जाती हैं। मुट्ठीभर पूँजीवादी शासक-वर्ग वैज्ञानिकों को चिरकाल के लिए खरीदकर नहीं रख सकेगा, अस्त्र-बल जनता के हाथ में आयगा, पार्टी के

कर्णधारों में आदर्श-भंग नहीं होगा, होने पर भी जनता उन्हें संयत कर सकेगी। इन सबके पीछे ऐसा लगता है कि क्रांतिकारी मन की अचल आदर्श-निष्ठा ही सबसे बड़ी बात है।

पाठक—वह क्या अन्यायपूर्ण या असम्भव दावा है ?

लेखक—अन्यायपूर्ण भी नहीं, असंभव भी नहीं। किन्तु बात यह है कि मन पर ही जब प्रधान आधार है, तब अस्त्र-बल पर निर्भर रहने की जरूरत ही क्या है ? झूठ-मूठ को अस्त्र-शस्त्र के पीछे अर्थ-व्यय करने से क्या लाभ है ?

पाठक—अस्त्र धारण न करने पर जनता की संस्था दो दिन में ही नष्ट हो जायगी।

लेखक—अस्त्र धारण करने पर भी तो नष्ट हो सकती है। इसके अलावा अस्त्र-त्याग करने में बहुत-सी सुविधाएँ भी हैं। विरुद्ध शक्ति यदि देखेगी कि जनता मरेगी पर मारेगी नहीं, तब उसके दमन की उग्रता कुछ कम हो जायगी। अपनी आत्मरक्षा कर रहे हैं, यह कहकर शासक-वर्ग अपने अन्याय-पूर्ण अत्याचार का समर्थन नहीं कर सकेगा। हिंसा के विरुद्ध प्रतिहिंसा के अभाव में उनकी अस्त्र-मुट्ठी शिथिल होगी, हृदय में आश्चर्य उत्पन्न होगा। क्षणभर के लिए शायद रुककर वे लोग सोचेंगे कि जनता तब क्या चाहती है ? तब जनता के प्रतिनिधि उनके पास आकर, अपनी बात कहकर यह समझायेंगे कि उनका दावा कितना न्यायसंगत है। वे सबके लिए कल्याण-कर संस्था बनाने का प्रस्ताव रखेंगे और शासित और शासक दोनों मिलकर नयी संस्था खड़ी करेंगे।

शासक-वर्ग के हृदय से तब आत्मलोप का भय दूर हो जायगा, शासितों का हृदय तब लोभ, भय, जड़ता आदि तामसिकताओं से मुक्त हो जायगा। पहले जो शत्रु थे, वे भाई-भाई की तरह एक मंगलकारी सहयोगिता के सूत्र में बँध जायेंगे।

पाठक—सुनने में बुरा नहीं लगता, लेकिन जो लोग शोषक हैं, उनके

प्रति क्षमा का भाव पोषण करना संभव या उचित है ? और स्वार्थान्ध शक्ति के अधिकारी धनी या शासक-वर्ग के हृदय में कभी परिवर्तन हो सकता है ?

लेखक—होगा, इसी आशा के प्रकाश में हम चलते हैं।

पाठक—हम भी परिवर्तन में विश्वास न करते हों, सो बात नहीं है। फिर भी पहले अधिकारियों को शासन से निर्वीर्य करना होगा, उनके विषैले दाँत तोड़ने के बाद फिर शिक्षा के द्वारा परिवर्तन संभव होगा। जब तक उनमें शक्ति है, तब तक हृदय का परिवर्तन होना संभव नहीं है।

लेखक—अहिंसक असहयोग के द्वारा वह परिवर्तन लाया जा सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है। शोषकों के हृदय तक को हम स्पर्श करना चाहते हैं।

पाठक—आप तब तो मोडरेटों की तरह आरजू-मिन्नत में विश्वास करते हैं ?

लेखक—नहीं, सो बात नहीं है। विधानवादी मोडरेटों और हममें एक बड़ा भेद है। वे केवल बुद्धि के द्वार पर ही चोट करते हैं, बार-बार सद्युक्ति के द्वारा विरुद्ध शक्ति को सुपथ पर लाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन हम सोचते हैं कि बुद्धि जहाँ स्वार्थबोध के द्वारा आच्छन्न है, वहाँ पहले हृदय के द्वार पर आघात करना जरूरी है। स्वार्थ के आवरण को यदि विदीर्ण कर सकें, तो मनुष्य की शुभबुद्धि प्रस्फुटित होगी। यहाँ पर आप लोगों के साथ हमारा मेल है, लेकिन विधानवादियों के साथ नहीं है। लेकिन प्रभेद यही है कि आप लोग हृदय के जिस द्वार पर आघात करते हैं, हम उस द्वार पर आघात नहीं करते। जो व्यक्ति परिस्थितिवश हमसे विरोध कर रहा है, उस व्यक्ति के मनुष्यत्व की हम अवहेलना या अपमान करना नहीं चाहते। उसके शरीर को शासन के द्वारा विपन्न करके मनुष्य-रूप में हम उसे छोटा नहीं करना चाहते। उसका भी बड़ा मन है, महान् हृदय है, यही विश्वास लेकर हृदय में आत्मीय की तरह प्रवेश करना चाहते हैं। हमारा धैर्य और अविचल निष्ठा देखकर उसके हृदय में भी कल्याण-कुसुम प्रस्फुटित होंगे, शुभ-बुद्धि जागेगी।

पाठक—खूब, सुनने में बहुत अच्छा लगता है; लेकिन इस रास्ते से जनता किस प्रकार अपनी आत्मरक्षा करेगी, यह तो समझ ही नहीं पाया। साथ ही सिद्ध पुरुष के अलावा साधारण लोगों के लिए अहिंसा के द्वारा आत्मरक्षा करना संभव भी तो नहीं लगता।

लेखक—अत्यंत साधारण मनुष्य के लिए भी संभव है, यही गांधीजी का विश्वास है। मनुष्य-समाज में निरंतर यही शक्ति काम करती है, नहीं तो मनुष्य पशु की तरह हमेशा निष्ठुर ही बना रहता।

जनता की अंतर्निहित, सुप्त शांत शक्ति को जाग्रत और सक्रिय किया जायगा, यही गांधीजी का विश्वास है और इसके लिए सुचिन्तित साधन का मार्ग भी उन्होंने तैयार किया है।

पाठक—इस बारे में बाद में सुनेंगे। लेकिन भारतवर्ष में हम हिंसा के द्वारा सफल नहीं हो सकेंगे। क्या इसीलिए अहिंसा के उपाय का आश्रय नहीं लिया गया?

लेखक—अनेक लोगों के लिए यह युक्ति सही है, इसमें संदेह नहीं; लेकिन गांधीजी के लिए नहीं। वे समझते हैं कि सिर्फ भारत ही में क्यों, जगत् में सब जगह यदि आत्मरक्षा के लिए मनुष्य को चुने हुए, संहार-विद्या में निपुण कुछ लोगों पर निर्भर रहना पड़े, तब तो दरिद्रतम मनुष्य के लिए किसी दिन भी स्वराज्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

पाठक—क्यों, देश की सैन्य-शक्ति यदि गणतांत्रिक सरकार के आधीन हो, तब ऐसा क्यों नहीं होगा? प्रत्येक मनुष्य को यदि अस्त्रधारण करने का अधिकार हो, तब क्यों नहीं होगा?

लेखक—नहीं होगा, इतिहास यही साक्षी देता है।

पाठक—इतिहास में जो नहीं घटा, वह क्या नहीं घट सकता?

लेखक—घट सकता है, यही तो हमारा भी विश्वास है। मनुष्य ने जड़ विज्ञान के क्षेत्र में कितनी आश्चर्यजनक शक्तियाँ प्राप्त की हैं, और मनुष्य के हृदय-परिवर्तन के समय, जहाँ बहुत से लोगों को परिवर्तित करने

का काम है, वहाँ वह केवल दंड और शासन की उसी पुरानी पद्धति को नहीं छोड़ सकेगा, यह बात सोचने में मुझे अच्छी नहीं लगती। प्रत्येक मनुष्य को आत्मरक्षा के लिए सदैव नर-हत्या का आश्रय लेना होगा, इस विषय में मानव-समाज नया कुछ नहीं कर सकेगा, यह बात मुझे जँचती नहीं।

पाठक—कर सके, तो आपत्ति किसे है ? लेकिन उसकी सम्भावना का क्या कोई आभास दिखाई देता है ?

लेखक—देता है, तभी तो हमारा इतना विश्वास है। दक्षिण अफ्रीका में, चंपारन में, बारडोली में, पंजाब के गुरुद्वारा-आंदोलन में, मेदिनीपुर अथवा त्रिवांकुर में बहुत से खंड-खंड विद्रोहों में साधारण मनुष्य की शांत शक्ति दुर्दमनीय विरोध को पार कर सकी है, इसीलिए हमारा इतना विश्वास है।

पाठक—लेकिन उन सब स्थानों में कभी भी स्वार्थांध राजशक्ति सचमुच में विपन्न नहीं हुई। यदि सचमुच में वह अपने-आपको विपद्ग्रस्त अनुभव करे, तो जनता के अहिंसक विद्रोह का दमन करने में उसे देर नहीं लगेगी।

लेखक—जनता यदि सचमुच ही सक्रिय अहिंसा का आश्रय ले, तो उसकी पराजय होना असंभव है। फिर भी आप कहते हैं कि किसी बड़े स्वार्थ के द्वंद्व में जनता की विजय हुई हो, इसका दृष्टांत नहीं है। इसीलिए भारत की स्वराज्य-साधना में अहिंसा की परीक्षा इतना गुरुत्वपूर्ण काम है।

पाठक—लेखक अनेकानेक लोगों को सम्मिलित अहिंसक आंदोलन के योग्य बनाना क्या संभव है ? अहिंसा तो मनुष्य के लिए स्वभावसिद्ध नहीं है।

लेखक—स्वाभावसिद्ध अवश्य है। फिर भी वह स्वभाव हिंसाभाव की अपेक्षा आज समाज या साधारण व्यक्ति के अंतर में दुर्बल हो रहा है। लेकिन हिंसा मनुष्य के लिए सहज है, यह तो आप मानते हैं ?

पाठक—हाँ, यह तो मानते हैं।

लेखक—तिस पर भी लड़ाई के लिए मनुष्य को कितनी शिक्षा नहीं दी जाती है। अहिंसा को सम्मिलित रूप से सफल करने के लिए इससे ज्यादा शिक्षा दी जायगी, इसमें आश्चर्य क्या है ?

पाठक—लेकिन आप सुगम मार्ग छोड़कर दुर्गम मार्ग क्यों पकड़ते हैं ?

लेखक—आपके सुगम हिंसा के मार्ग से जनता के लिए स्वराज्य की प्रतिष्ठा करना किस प्रकार संभव होगा, यही तो समझ में नहीं आता। वर्तमान स्थिति का परिवर्तन होगा, यह मानता हूँ; लेकिन वह स्थिति भी जनता की दृष्टि से पर-राज्य हो जायगी। इसलिए, इस समय लंबा और दुर्गम लगने पर भी अहिंसा का मार्ग ही पकड़ा है, क्योंकि लक्ष्य तक पहुँचने की संभावना केवल यहीं दिखाई देती है, और किसी मार्ग से नहीं दिखाई देती।

पाठक—लेकिन असंख्य लोगों को अहिंसक संग्राम के लिए संगठित करने का क्या उपाय है ?

लेखक—वह मैं अन्यत्र बता चुका हूँ। गांधीजी धनोत्पादन की व्यवस्था को विकेंद्रीकरण के द्वारा जनता के आधीन करना चाहते हैं। अपने प्रयत्न से कुछ आर्थिक मुक्ति प्राप्त करने पर मनुष्य में आत्मविश्वास जागेगा और आत्म-विश्वास जागने पर शांत प्रतिरोध के समय विरुद्ध शक्ति के आघात से उनकी केंद्रीय संस्था के टूट जाने पर भी वे अपनी ज्ञान-बुद्धि के अनुसार चलने का प्रयत्न करेंगे। विरोधी शक्ति के साथ सहयोग नहीं करेंगे, रचनात्मक कार्य में से ही हमारा विनाशात्मक काम चलता रहेगा, इस विश्वास पर जनता अटल रहेगी। इस दृढ़ उदासीनता का आघात दुनिया की कोई संस्था भी सहन नहीं कर सकेगी। इस निष्ठा को जगाये रख सकें, तो जनता के लिए स्वराज्य-साधन में सिद्धिलाभ होना अवश्यंभावी है।

पाठक—अच्छा, फिर कभी आपसे अहिंसक युद्ध के संगठन के उपाय के बारे में सुनेंगे। मेरी धारणा है कि मनुष्य को अहिंसक युद्ध के लिए सामूहिक रूप से तैयार नहीं किया जा सकता, हिंसा बीच में आ ही पड़ेगी; क्योंकि सबके मन सरीखे नहीं होते। व्यक्ति के लिए जो संभव है, समूह के लिए वह संभव नहीं है। फिर भी इस बारे में आपका वक्तव्य सुनने में मेरी आपत्ति नहीं है।

●●●

सत्याग्रह का मूलतत्त्व : ५ :

भारतीय साधना की अन्तर्निहित धारा

शतद्रु नदी जहाँ हिमालय पर्वत को भेदकर पंजाब की ओर बही है, वहीं से तिब्बत और मानसरोवर जाने का एक दुर्गम मार्ग है। मेरे एक अंग्रेज शिक्षक एक बार इसी उपत्यका में पत्थर और पर्वत की प्रकृति की परीक्षा करने गये थे। वहाँ एक साधु से उनकी भेट हुई। साधु दरिद्र, जीर्ण-जीर्ण वस्त्र पहने पूर्व दिशा की ओर जा रहा था। पैरों में जूते नहीं थे, बर्फ के मारे तलवे फट गये थे और उनमें घाव हो गये थे, उन्हीं घावों पर कई तह कपड़े बाँधकर वह धीरे-धीरे थका-सा आगे बढ़ा चला जा रहा था। मेरे शिक्षक ने उससे पूछकर मालूम किया कि वह मानसरोवर तक जायगा। तब उन्होंने साधु से पूछा कि वह इतना कष्ट उठाकर, कोई अच्छी व्यवस्था किये बिना तीर्थयात्रा के लिए क्यों निकला है? साधु ने जवाब दिया, मैं इस पवित्र भूमि में जा रहा हूँ; संभव है, किसी दिन मानसरोवर तक नहीं पहुँच पाऊँ, संभव है, रास्ता चलते-चलते मेरी देह गिर जाय; लेकिन मैं जहाँ तक पहुँचूंगा, वही तो मेरा मानस-तीर्थ है।

यह भारतवर्ष विचित्र देश है, यहाँ के मनुष्य भी विचित्र हैं। भारतीय साधना के पीछे जो बलिष्ठ शक्ति सदा से उसे प्राण देती आयी है, जो आज सब तरह की ग्लानि और अकल्याण के दबाव से भी नहीं मरी, यह भी वही पदार्थ है। मेरे एक बंधु के प्रपितामह कलकत्ते से श्रीक्षेत्र तक चैतन्यदेव जिस मार्ग पर पैदल चले थे, उस पर सारे रास्ते साष्टांग दंडवत करते हुए गये थे।

ये लोग पागल हैं, इसमें संदेह नहीं; लेकिन जो लोग हिमालय के उच्चतम शिखर अथवा नंगा पर्वत की चोटी पर केवल क्षणभर के लिए आरोहण करने के उन्माद में खेल-खेल में प्राण देने में संकोच नहीं करते, यह भी उन्हींकी

तरह का एक पागलपन है। जिस पागलपन के वशीभूत होकर वैज्ञानिक ज्वालामुखी पर्वत के गह्वर में अपने यंत्रों समेत प्रवेश करके वाष्प के नमूने संग्रह करते हैं, अथवा अपने या अपने पुत्र के शरीर में हलाहल विष प्रविष्ट कराकर चिकित्सा-शास्त्र की गवेषणा करते हैं, यह भी उसी तरह का पागलपन है। यह पागलपन पीछे है, इसीलिए योरोप का पर्वत जैसा लोभ, स्वार्थपरता और निष्ठुरता का जंजाल रहने पर भी वह बड़ा है। योरोपीय साधना के पीछे जो शौर्य अविचल रूप से वर्तमान है, वह वरतु स्वार्थी वणिक् की निष्ठुर वाणिज्य चेष्टाओं में प्रकाशित होती है, यह बात सही है, अंध सैनिकों द्वारा मृत्यु-भय की उपेक्षा करके संग्राम में या साम्राज्य-विस्तार के लिए आत्मदान देने के आग्रह में प्रकाशित होकर सारे जगत्वासियों को उद्विग्न करती है, यह भी सच है; फिर भी योरोप में ही उसका सात्त्विक प्रकाश भी है, इसीलिए आज योरोप बड़ा है। संभव है, लोभ के तमस्तूप के भार के कारण वही अमूल्य वस्तु नष्ट होने को आयी है; फिर भी समग्र मानव-जाति के कल्याण के लिए उसी संपद् का उद्धार करना पड़ेगा, उसे आज बचाकर रखना होगा। कारण, वह संपत्ति तो सिर्फ योरोप की नहीं है, वह तो समस्त मानव-जाति की संपत्ति है।

भारतवर्ष की जीवन-धारा के अंतराल में जो शक्ति आज भी बची हुई है, उसे भी इसी प्रकार समग्र मानव-जाति के कल्याण के लिए बचाकर रखना होगा, उसे विपथगामिता की व्यर्थता से मुक्त करना होगा। लेकिन दुःख की बात यह है कि वह धारा भारत के शिक्षित जन-समाज के जीवन में कदाचित् प्रकाशित होती है, वहाँ तो वह प्रायः विलुप्त-सी हो गयी है। इसका कारण भी है। योरोप का मध्यवित्त समाज अपने बल से बलवान् होकर, उच्चवर्ग के हाथ से सत्ता छीनकर बड़ा हुआ था। वहाँ की दरिद्र जनता आज भी आजादी प्राप्त नहीं कर सकी, यह बात सच है; लेकिन मध्यवित्त प्रजा की सत्ता काफी है। उच्चवर्ग की पराजय के बाद उन्हींमें से बहुत से लोग धनी हुए हैं, शक्तिमान् हुए हैं और उन्होंने जगत् में योरोप के साम्राज्य का विस्तार

किया है। अपनी शक्ति पर ही उनका अधिष्ठान है। लेकिन भारतवर्ष में मध्यम श्रेणी अंग्रेज व्यापारियों के प्रयोजन से बनी है। अंग्रेजो व्यापार की रक्षा के लिए जो राजतंत्र रचा गया है, उससे मजदूर श्रेणी के लोग हमारे समाज में उन्नीसवीं शताब्दी से नये ही दिखाई दिये। उच्चवर्ग के टूटने से जो दरिद्र हो गये, दरिद्र कारीगरों में जिन्हें परिस्थितिवश शिक्षा का सुयोग मिला, उन सबने मिलकर हमारे देश में मध्यम श्रेणी-समाज की रचना की है। लेकिन यह भी अपनी ताकत से सुप्रतिष्ठित होकर नहीं, बल्कि परोपजीवी अंग्रेज वणिकों और विदेशी राजतंत्र के प्रयोजन से। वे निर्वीर्य इसीलिए हैं कि मध्यम श्रेणी के जीवन ने केवल दूर से योरोपीय सभ्यता की समृद्धि की प्रशंसा की है, उनका क्षीण और अति जीर्ण अनुकरण किया है, आंग्ल-भारतीय एक विचित्र सभ्यता रचने का प्रयास किया है, लेकिन उसमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सके। इसीलिए, हमारे देश की वैज्ञानिक गवेषणा तपस्या का भाव नहीं है। अपनी नौकरी को सुरक्षित रखने या अंग्रेज वैज्ञानिकों से प्रशंसा पाने की चेष्टा ही उसमें सोलह आने प्रस्फुटित होती है।

योरोप में विज्ञान का उपयोग जीवन को समृद्ध करने के लिए होता है। जनता की बुद्धि को, उसके चिंतन को, उसके व्यवहार, आचरण और जीवन-यात्रा को समुन्नत करने के लिए वैज्ञानिक लोग कितनी साधना और चेष्टा करते हैं। लेकिन भारत का वैज्ञानिक समाज परोपजीवी वृक्षों की तरह विदेशी धनतंत्र का आश्रयभोगी है। करोड़ों दरिद्रनारायणों के जीवन के साथ उनका आध्यात्मयोग छिन्न हो गया है, इसीलिए यहाँ के वैज्ञानिकों की गवेषणा केवल धोखे की टट्टी है, वह मनुष्य के जीवन को सींचकर समृद्ध नहीं कर सकती। मध्यम श्रेणी के नौकरीपेशा वैज्ञानिकों में तो यहाँ सामाजिक दायित्व का बोध ही नहीं है, इसीलिए उनकी गवेषणा में तपस्या की आवश्यकता नहीं होती।

फिर भी अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से मुक्त और शहर का दारिद्र्य जिन सब मनुष्यों के मन को पूर्ण रूप से विध्वस्त नहीं कर सका, ऐसे भारतवासियों के प्राणों में तपस्या की यह शक्ति आज भी विद्यमान है। मैंने अपनी आँखों

से देखा है और देखकर धन्य हुआ हूँ। भारत के जंगलों में इसीकी खोज में बराबर घूमा हूँ। काशी की एक जीर्ण गली में एक व्यक्ति तबला-वादन सीखता था। जाड़े के दिन थे, कच्ची मिट्टी का घर था और कच्चा ही फर्श था। उस पर घुटने गड़ाये बैठा हुआ गुरु के निर्देश के मुताबिक घंटों तबला बजाये जा रहा था। मिट्टी में घुटने कुछ गड़ गये हैं, हाथ की उँगलियाँ फटकर उनसे रक्त बहने लगा है, उन पर मोम लगाकर उन्हें नरम करता है, फिर भी अभ्यास में कमी नहीं है, ऐसी दृढ़ता देखकर सिर स्वतः झुक जाता है।

उड़ीसा के एक दूर गाँव में एक पत्थर के कारीगर का पता लगा था। मैंने उससे पूछा कि किसी दिन भी तो आपकी साधना से समाज सार्थक नहीं होगा। समाज तो आपकी उपेक्षा करता है, फिर किस बूते पर आपने यह रास्ता पकड़ रखा है? उसने उत्तर दिया कि आज मेरा सम्मान नहीं है, यह बात सही है; लेकिन किसी न किसी दिन मेरे वंशधर सम्मान पायेंगे। इसीलिए कला की धारा को बीज की तरह बचाये हुए हूँ। मैं साधना छोड़ दूँ, तो बीज ही नष्ट हो जायगा। उड़ीसा के एक ग्राम्य कवि से मुलाकात हुई थी। उसने समाज-संस्कार के प्रयत्न में एक ही स्थिति में अठारह साल बिताये थे। फिर भी प्रयत्न नहीं छोड़ा और अपनी काव्य-साधना भी क्रोध के वश होकर या अवहेलना के दुःख से नष्ट नहीं होने दी। उसके मन का माधुर्य बिंदुमात्र भी कम नहीं हुआ। ये सब साधक ही भारत की अंतर्निहित वस्तु को बचाये हुए हैं।

गरीब अशिक्षित जनता के जीवन में भी इसका प्रकाश अक्षुण्ण है। दरिद्र तीर्थयात्री दिन पर दिन पैदल चलकर पहाड़ी रास्ते से देव-दर्शन के लिए यात्रा करते हैं। कोई गंगोत्री से एक बूँद जल लेकर किसी दिन सेतुबंध रामेश्वर पहुँचकर वही जल महादेव के मस्तक पर चढ़ाने की चेष्टा करता है। बदरी-केदार के मंदिर पर जो पताका फहराती है, उसीका एक छिन्न अंश लेकर वृन्दावन में जमुना के पास किसी छोटे-से मंदिर में अर्पण कर आता

है—केवल इस बात की साक्षी देने के लिए कि वह देवता के लिए भारत के एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक भ्रमण करके अपनी शक्ति के अनुसार एक सामान्य-सा उपहार लेकर आया है ।

परजन्म में पुण्य-संचय के लिए अथवा केवल भ्रमण करने के नशे में पुण्य-संचय को उपलक्ष्य बनाकर आज भी हजारों भारतवासी तीर्थयात्रा के कष्टों को प्रसन्नता से वरण करते हैं । वे ही देवता के मंदिर में पैसे चढ़ाते हैं, गंगा के घाट पर जहाँ रामायण-महाभारत का पाठ होता है, वहाँ स्नान के बाद लौटते समय एक मुट्ठी चावल चढ़ाकर प्रणाम करते हैं, कहीं यदि लोगों की भीड़ को रास्ते से जाते हुए देखते हैं, तो हाथ जोड़कर 'हरिबोल' कहकर प्रणाम करते हैं, रोगपीड़ित बालक को बचाने के लिए अनाहार से अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए देवस्थान पर आत्मघात करते हैं—यही भारतवर्ष है, इन्हींमें भारत के श्रेष्ठतम युग में प्राप्त मानशक्ति, सात्त्विक वीर्य आज भी जैसी-तैसी अवस्था में खोये हुए रत्न की तरह बचा हुआ है । संभव है, आज के दुर्भाग्य के दिनों में उस शक्ति का तामसिक प्रकाश ही अधिक हो, बहुत से कुसंस्कार उसके प्रभाव से बचे हुए हैं; लेकिन फिर भी उस अंधविश्वास के पीछे जीवन की जो शक्ति काम कर रही है, वह सत्य है, वह आज भी नष्ट नहीं हुई । कभी-कभी एकाध व्यक्ति के जीवन में उसका सात्त्विक विकास भी दिखाई देता है । उड़ीसा के कवि, शिल्पी और हिमालय के साधु के जीवन में उसका अमृत रूप प्रकाशित हो उठता है, यह सच है; लेकिन इनकी संख्या इतनी कम है और भारतीय जीवन में तमोराशि का परिमाण आज इतना अधिक है कि उस शांत शक्ति को विकीर्ण न किया जाय, तो मनुष्य के रूप में जगत् में हमारे जीवित रहने का कोई अर्थ नहीं । लेकिन भारत की अंतर्निहित साधना की धारा आज भी बची हुई है, यही हमारे लिए सबसे अधिक आशाजनक बात है ।

सार्थक मरण का उपाय

स्वामी विवेकानंद कहा करते थे कि गृहस्थ और संन्यासी में क्या भेद

है, जानते हो ? गृहस्थ जीवन से चिपटा रहता है, कैसे जीवित रहूँ, इसीकी चिंता करता है और संन्यासी मृत्यु का आलिंगन करना चाहता है। मरेंगे तो सभी, लेकिन मनुष्य अपना जीवन कितने उत्साह के साथ आहुति दे सकता है, संन्यासी उसीकी चिंता करता है। उसी आहुति के द्वारा ही वह मृत्यु से अतीत अमृत-पद की प्राप्ति करता है।

गांधीजी भी स्वामी विवेकानंद की भाँति एक ही पथ के पथिक हैं। सत्याग्रह के बारे में उन्होंने कहा है कि इसका मूलमन्त्र है, मृत्यु को स्वीकार करना, मृत्यु का वरण करना। और जीवन का यह उत्सर्ग परलोक में किसी पद की प्राप्ति के लिए नहीं है, पुण्य का सौदा खरीदने के लिए नहीं है। बल्कि संसार की शोषित जनता दुःख के भार से किस प्रकार मुक्त हो, उसी मार्ग की खोज के लिए है। स्वामीजी कहा करते थे कि यदि मनुष्य की दुःख-निवृत्ति के लिए मुझे करोड़ों जन्मों तक संसार के कीचड़ में लौटकर आना पड़े, तो मैं जाऊँगा। सभी बोधिसत्त्वों की भी एक यही वाणी है। वह वाणी भारत के साधक संप्रदाय में आज भी क्षीण धारा में वर्तमान है। स्वामी विवेकानन्द अथवा गांधीजी ने उसे आत्मिक पुण्य के लोभ से मुक्त करके जनता के कल्याण के मार्ग पर चलाया है। नदी की जो धारा चट्टानों की रुकावट पाकर निष्फल स्रोत के रूप में जनता से दूर पर्वत के अंतराल में वह रही थी, कभी-कभी जिसकी आवाज हमारे कानों तक दूर से पहुँचती थी, उसी स्रोतधारा को गांधीजी ने मनुष्य के कल्याण के लिए पहाड़ काटकर बाहर करके समाज की दैनिक जीवन-भूमि को प्लावित कर दिया है।

लेकिन कितने दिनों के दुःख, कितने असंख्य साधकों की चेष्टाओं ने इसके पीछे रहकर आज की इस घटना को संभव किया है! एक शताब्दी से भी अधिक समय तक भारतवर्ष के हिन्दू-समाज में ब्राह्मधर्म, आर्यसमाज आदि के साथ के आंदोलनों ने धीरे-धीरे समाज की मलिनता को धोया है। कुसंस्कारों की नागफाँस प्रतिदिन की सतत चेष्टा के द्वारा किंचित् शिथिल की है, कितने चिंतनशील लेखकों ने मनुष्य की दृष्टि पुण्य के आयोजन से हटा-

कर मिट्टी की ओर लौटायी है। उन्हींके समवेत प्रयत्न के फल से आज का जीवनप्लावन संभव हुआ है। जिस पुण्य के लोभ से धर्मात्मा साधु तपस्या में निरत होता है, उसी तपस्या के शौर्य का सहारा लेकर भारतवर्ष में कितने तरुण क्रांतिकारियों ने समाज के कल्याण की साधना में लगकर अमोघ मृत्यु के पथ को वरण किया था।

इन सब लोगों का दान आज की सत्याग्रह-साधना के पीछे है। अनेक साधकों की युग-युगांतरव्यापी साधना द्वारा भारत के अंतर में जो सात्त्विक बल संचित हुआ था, जो लुप्त नहीं हुआ, वही अब फिर से धरती को फोड़कर, नये स्रोत से बाहर होकर समाज के जीवन को प्लावित कर रहा है। गांधीजी अकेले की क्या सामर्थ्य है कि वे अकेले अपनी चेष्टा से सारे देश का रूप ही बदल दें ? ऐसा अभिमान भी उनमें नहीं है।

उनकी कृति तो केवल इतनी है कि जनता को मृत्यु-वरण करने के लिए उन्होंने नये साधन-पथ का संकेत दिया है। उस साधन-पथ पर अग्रसर होने पर हमारे इस जीवन में जो मैल संचित हुआ है, वह सब धुल-पुँछ जायगा। गांधोजी कहते हैं कि "इहकाल या परकाल नाम की स्वतंत्र कोई वस्तु नहीं है। मनीषी जीन्स ने हमारी इस भेदबुद्धि को समाप्त कर दिया है। एक अणु में भी ब्रह्मांड के समान विशाल तत्त्व छिपे रह सकते हैं, मनुष्य को उन्होंने यह शिक्षा दी है।

अतएव सत्याग्रह के द्वारा हम लोग मृत्यु को वरण करेंगे। परलोक में पुण्य-संचय के लिए नहीं, बल्कि इहलोक में सामाजिक मलिनता और प्रत्येक मनुष्य के चरित्र की कलुषता को धो-पोंछकर उज्ज्वल मनुष्यत्व की संभावना पैदा करने के लिए। यही सत्याग्रह का मूलमंत्र है। सत्याग्रह की साधना से व्यक्ति अंत में मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है, सब प्रकार के बंधनों से मुक्त हो सकता है; लेकिन व्यक्तिगत मुक्ति सत्याग्रही को नहीं चाहिए। व्यक्ति समाज से अविच्छिन्न है, सबकी मुक्ति में एक की मुक्ति है, इसी सत्य को पकड़कर

सत्याग्रही आगे बढ़ता है और उसकी पराक्रमी प्रगति के फलस्वरूप समाज-शरीर की संचित ग्लानि एक-एक करके दूर हो जाती है।

योगी को जैसे विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही सत्याग्रही की साधना से समाज का दारिद्र्य दूर हो जायगा, पराधीनता की ग्लानि मिट जायगी, जगत्-समाज से शोषण का कलुष दूर होकर सब लोग मनुष्यत्व की मर्यादा में सुप्रतिष्ठित होंगे। इसी आशा से सत्याग्रही सत्याग्रह-वृक्ष के मूल में अपना जीवन-रस सींचता है। मृत्युंजयी अनेक विगत साधकों का अमृत आशीर्वाद उनका समर्थन करे, संसार में जितने बोधिसत्त्व जन्मे हैं, उनका पुण्य सत्याग्रही के चित्त को अमोघ आवरण में आवृत करे! सत्याग्रही के अंतर में पराजय की ग्लानि न आये और सत्य को अविचल निष्ठा के साथ पकड़कर वह अपनी यात्रा करे! सत्याग्रह की जय हो! जय हो!

● ● ●

सत्याग्रह-साधना

: ६ :

नमक-कानून भंग की एक घटना

१९३० ईसवी में नमक-कानून के विरुद्ध सत्याग्रह के समय बंगाल के विभिन्न जिलों से कांग्रेस-कार्यकर्ता मेदिनीपुर जिले के कांथि परगने में जमा हुए और सरकार की ओर से उन्हें रोकने के लिए यथासाध्य प्रयत्न होता रहा। सत्याग्रहियों का उद्देश्य था कि वे केवल स्वयं नमक-कानून भंग करके शांत नहीं होंगे, बल्कि गाँव की जनता सम्मिलित रूप से आंदोलन में योग दे, इसीके लिए विशेष प्रयत्न करेंगे। कांथि परगने के विभिन्न केंद्रों में दोनों पक्षों का द्वंद्व चलता रहा। यहाँ मैं उस समय के एक केंद्र में सत्याग्रहियों के अनुभव के बारे में कुछ बताऊँगा।

जिस सत्याग्रह-शिविर का उल्लेख कर रहा हूँ, वहाँ तब प्रतिदिन प्रातःकाल के समय करीब दस सत्याग्रहियों ने सिर पर गांधी टोपी लगाकर, हाथ में राष्ट्रीय झंडा लेकर प्रभातफेरी निकाली और जुलूस निकलते न निकलते पुलिस की टुकड़ी ने आकर उन पर आक्रमण किया और बेंत, लाठी, घूँसे, लातों के आघात से उन्हें धराशायी कर दिया। बेहोशी की हालत में क्षत-विक्षत सत्याग्रहियों का दल पड़ा रहा। उन्हें शिविर में लाकर सेवा-शुश्रूषा का प्रबंध किया गया। दूसरे दिन फिर इसी तरह नया दल बाहर निकाला गया, फिर पुलिस का अत्याचार हुआ। गाँव के स्त्री-पुरुष प्रतिदिन यह करुण दृश्य खड़े-खड़े देखते और अंत में अपने घर लौट जाते थे। बंगाल के वीर युवकों का दल सरकार के साथ द्वंद्व युद्ध में पराजय स्वीकार नहीं करता, अपने व्रत पर अटल है, इससे सबकी श्रद्धा जाग उठी। गाँव के सब लोग सत्याग्रह-शिविर में श्रद्धावश चावल-दाल, साग-भाजी पहुँचा देते थे, किन्तु उनमें खुद में इन सत्याग्रहियों के दल में योग देने की इच्छा या

नमक-कानून तोड़ने का उत्साह किसीमें दिखाई नहीं देता था। गाँववासी मानो सत्याग्रहियों को किसी और ही दुनिया के जीव समझते थे। उनका सम्मान करते थे, भक्ति करते थे, पर उन्हें दूर रखते थे। वे अपने ही आदमी हैं या स्वजातीय हैं, ऐसा वे सोच नहीं सकते थे।

ऐसी अवस्था में सत्याग्रही धीरे-धीरे अधीर होने लगे। नेतृ-स्थानीय दो-एक सत्याग्रहियों ने युवकों पर होनेवाले अत्याचार को अधिक सहन न कर सकने के कारण मन में विचारा कि प्रतिदिन निष्फल अत्याचार सहने से लाभ नहीं है, सत्याग्रह की वृद्धि या प्रसार का तो कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। अतएव सब मिलकर एक साथ, एक दिन अत्याचार की भट्ठी में कूद पड़ें, इसके बाद जो होगा, सो देखा जायगा। लेकिन इससे भी जनता का निश्चेष्ट भाव तोड़ा जा सकेगा, ऐसी किसीको आशा नहीं थी।

जो हो, लेकिन स्थिति जब ऐसी संगीन हो उठी, तब एक सत्याग्रही के मन में एक नयी बुद्धि जागी और काम की धारा परिवर्तित करने के साथ ही साथ दो दिन में ही उस केंद्र के चारों तरफ अभावनीय उत्साह-संचार के कारण पास के गाँवों में भी नमक सत्याग्रह का आंदोलन आग की तरह फैल गया। किस कौशल का अवलंबन किया गया और किस प्रकार ग्रामवासियों का निरुत्साह और निष्क्रियता दूर हुई, यह हम सबके लिए ध्यान देने योग्य है। कारण, इसमें जानने लायक बहुत-सी बातें हैं।

जिस दिन की घटना का वर्णन कर रहा हूँ, उस दिन प्रातःकाल एक सत्याग्रही को प्रभातफेरी के आगे रहने के कारण बड़ी भारी चोट सहन करनी पड़ी थी। चोट इतनी संगीन लगी थी कि सारा शरीर नीला पड़ गया था। इतना ही नहीं, चेहरा जगह-जगह से सूजकर विकृत हो गया था। सूजन के मारे आँखें बंद हो गयी थीं और बड़े प्रयत्न से वह अपनी आँखें खोल पाता था। दूसरे दिन उसके जाने की बात नहीं थी। उस दिन कुछ नये सत्याग्रहियों और इस बीच कई लोग, जो विश्राम लेकर अपेक्षाकृत अच्छे हो गये थे, उनके जाने की बात तय थी। जिस सत्याग्रही नेता का अभी

हाल में उल्लेख किया है, उसने एक नया प्रस्ताव रखा। उसने कहा, कल जो सत्याग्रही सबसे ज्यादा जख्मी हुआ है, आज उसे ही फिर से प्रभातफेरी के आगे-आगे चलना होगा। सब लोग यह बात सुनकर चौंक पड़े। कल की मार के मारे जिसमें आज उठने तक की शक्ति नहीं है, उसे यदि आज फिर पुलिस की टुकड़ी के सामने खड़ा होना पड़े, तब तो उसकी मृत्यु निश्चित है, इस बारे में किसीको संदेह नहीं था। लेकिन प्रस्तावकारी नेता अटल रहा। तब आहत सत्याग्रही से पूछा गया। उसने बिना किसी दुविधा के सम्मति दे दी और जुलूस के लिए तैयार हो गया।

इस बीच बाहर दर्शकों की भीड़ लग गयी थी, पलभर में यह खबर उनमें फैल गयी। सब लोग आज की घटना का परिणाम जानने के लिए सशंक हृदय से प्रतीक्षा करने लगे। सत्याग्रहियों का दल उस दिन भी यथारीति झंडा हाथ में लेकर धीर गति से आगे बढ़ने लगा। सब लोगों ने सामने देखा कि वही पहले दिनवाला घायल व्यक्ति चल रहा है, उसका मुँह पहले दिन के प्रहार के कारण सूजकर विकृत हो रहा है, लेकिन उसकी चाल में किसी प्रकार की हिचक नहीं थी। सब आगे बढ़ने लगे। दर्शक-मंडली निस्तब्ध खड़ी थी, कहीं से कोई आवाज नहीं आ रही थी। दूर पुलिस की टुकड़ी दिखाई दे रही थी। इसी समय सहसा गाँव की कई नारियाँ रास्ते पर आगे आ गयीं और सत्याग्रहियों का रास्ता रोककर खड़ी हो गयीं। वे बोलीं— "हम यह दृश्य आँखों से नहीं देख सकेंगी, आज आप लौट जाइये, हम जायँगी।"

सत्याग्रही लौटे नहीं। लेकिन माताओं का दल उन्हें सामने, आसपास और पीछे से घेरकर अपने कल्याणमय पक्षपुटों से आवृत करके आगे बढ़ने लगा। पुलिस के आदमी भी स्तंभित हो गये और उस दिन बिना किसी रुकावट के नमक बनाने का यज्ञ सम्पन्न हुआ। दूसरे दिन से पास के गाँवों से नर-नारियों का दल सत्याग्रह-आंदोलन में कूद पड़ा। पुलिस का प्रतिरोध बाद में भी शायद उसी रूप में चलता रहा, लेकिन जनता का सत्याग्रह मन की तरफ से संपूर्ण रूप से विजयी हो गया था।

यह घटना उस समय के इतिहास में संभव है, अति सामान्य हो। कारण, बंगाल और भारतवर्ष के अनेक स्थानों में ऐसे ही दृष्टांतों का अभाव नहीं था। किन्तु इसमें हमारे लिए जो सीखने की वस्तु है, अब उसी पर विचार किया जाय।

एक उपमा

साधारण मनुष्य अनेक कामों को बुद्धि के द्वारा अच्छा समझ सकते हैं, पहचान सकते हैं, यह बात ठीक है। लेकिन मनुष्य का पुराना अभ्यास या संस्कार तो सहज में टूटता नहीं। समाज में चारों ओर यदि निर्वीर्य व्यवहार दिखाई दे, सब जगह यदि आलस्य, निश्चेष्टता या पराजय की कालिमा पुती हो, तो सहसा जीवन के किसी एक नये क्षेत्र में, आचरण में मनुष्य वीरता का परिचय देगा, यह आशा नहीं की जाती। लेकिन उस स्थिति में भी कुछ लोग अपने मन के द्वंद्व को अतिक्रम करके साहस के बूते समाज में नये आचरण का उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं। किन्तु उदाहरण की सृष्टि होने पर भी वह तुरंत अवसन्न जनता को जगा नहीं देता। चूल्हे में लकड़ी जलाने के लिए कुछ सूखे पत्तों या घास-फूस सरीखे सहजदाह्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। लकड़ी यदि कच्ची हो, खपच्चियाँ यदि कम हों, तो चूल्हा सुलगने में देर लग सकती है, अधिक धुआँ हो सकता है, लेकिन अध्यवसाय के साथ लगे रहने पर चूल्हा आखिरकार जल ही जायगा। संभव है, इसके लिए खपच्चियाँ और डालनी पड़ें और इस ओर भी ध्यान देना पड़े कि वे ठीक तरह से जलती हैं या नहीं। अर्थात् जनता में सत्याग्रह-आंदोलन को संचारित करने के लिए संभव है, सत्याग्रहियों की संख्या बढ़ानी पड़े। किन्तु यदि वे पुलिस के दमन से धैर्य न खोयें, दमन की मात्रा बढ़ने पर भी यदि व्रत में निष्ठा अविचल रहे, तो अन्त में जनता के चित्त को वह अवश्य स्पर्श करेगी। और यह संभावना कितनी जल्दी, किस अप्रत्याशित मार्ग से दिखाई देती है, उसे मेदिनीपुर के आलोचित दृष्टांत में हमने अच्छी तरह देख लिया है। एक

दृढ़प्रतिज्ञ सत्याग्रही के संकल्प ने गाँव के नर-नारियों के हृदय को एक दिन विद्युत्-शिखा की भाँति स्पर्श कर लिया था।

धर्मतल्ला में छात्रों का सत्याग्रह

कुछ दिन पहले कलकत्ते के राजमार्ग पर ऐसी ही एक घटना का अभिनय हो गया है। उस दिन कलकत्ते के छात्रों ने रास्ते-रास्ते जुलूस निकाला था। धर्मतल्ले के रास्ते में पुलिस ने उन्हें रोका। वे लोग लौटे बिना दोपहर तक रास्ते पर बैठे रहे। संध्या के बाद हठात् कई जनों के झंडा लेकर आगे बढ़ने की चेष्टा करने के साथ ही साथ जनता पर आक्रमण आरम्भ हुआ। पहले तो छात्रों का दल कुछ विक्षिप्त और विभ्रांत हो पड़ा, लेकिन जैसे ही एक व्यक्ति गोली लगने से धराशायी हुआ, वैसे ही बाकी सब लोग उस गोली के कारण अटल होकर खड़े हो गये। इसी बीच आहत व्यक्तियों को वहाँ से हटाकर चिकित्सा के लिए भेजने का आयोजन चलने लगा। इतने में पास खड़ी हुई दर्शकों की भीड़ उत्तेजित होकर पुलिस पर पत्थर फेंकने लगी, छात्रों ने उन्हें रोकने की चेष्टा की। पुलिस के दो-एक आदमी जनता के द्वारा मारे-पीटे गये, उन्हें छुड़ाकर निरापद स्थान पर भेजा गया। उस समय क्षण-क्षण में गोली चल रही थी, लेकिन धर्मतल्ले के जुलूस के लोग पीछे नहीं लौटे। शाम से सारी रात और दूसरे दिन शाम तक बिना खाये-पीये, सोये छात्रों का दल उसी जगह बैठा रहा। शाम को फिर गोली चलना शुरू हुआ, हताहतों की संख्या पहली रात की अपेक्षा और बढ़ गयी; फिर भी छात्रों का दल लौटा नहीं। अंत में पुलिस की टुकड़ी ने रास्ता छोड़ दिया और शांत दृढ़ता के साथ लालडिग्गी की परिक्रमा करके जुलूस के सब लोग अपने-अपने घर लौट गये। उनका दावा संपूर्ण रूप से स्वीकृत हुआ।

कौन जानता था कि हमारे प्रतिदिन के जाने-पहचाने साधारण लोग इस प्रकार मृत्यु की उपेक्षा कर सकेंगे ? प्रतिदिन के आचरण या चिंतन में जहाँ हमें साहस की रेखा भी ढूँढ़ने पर नहीं मिलती, वहीं इसी तरह अकस्मात्

एक दिन मृत्युंजयी वीरता की रश्मि उषा-काल की आलोक-छटा के समान दिखाई दे जाती है, गगन-मंडल में वही आलोक बिखर जाता है और मनुष्य-जाति के जीवन में नवप्रभात का उदय होता है। जो लोग आज शीर्ण-जीर्ण हैं, जिनका चरित्र ग्लानियुक्त है, वे ही चरित्र उपयुक्त चिनगारी के स्पर्श से प्रदीप्त हो सकते हैं, इस बारे में कोई संशय नहीं है। इसीलिए आज भारत की ग्लानि कितनी ही पुरानी क्यों न हो, किन्तु यदि सत्याग्रहियों का दल अपनी चेष्टा द्वारा अंतर की आग को जगा सके, दुःख को वरण करने के दुर्गम पथ पर चलकर मृत्यु के भय को अतिक्रम कर सके, तो बाकी लोग भी अवश्य जागेंगे, ऐसा हम मानते हैं।

अगस्त १९४२ में महात्मा गांधी जिस दिन गिरफ्तार हुए, इसके बाद सब जगह उनके नाम से एक घोषणा हुई। गांधीजी ने स्वयं वह घोषणा तैयार नहीं की थी। श्री प्यारेलाल ने बंबई में ९ और ८ अगस्त को गांधीजी द्वारा दिये हुए भाषण के कुछ वाक्य उद्धृत करके वह घोषणा तैयार की थी। रचना ठीक हुई थी, भाषा और भाव पर विचार करने पर ऐसा ही लगता है, और वह घोषणा गांधीजी सरीखे सत्याग्रही के लिए ही संभव है। उस घोषणा में था—सत्याग्रहियों को मृत्यु की ओर अग्रसर होना होगा, जीवन की ओर नहीं। एक के बाद एक मनुष्य जिस दिन मृत्यु की खोज में आगे बढ़ेगा, मृत्यु के साथ अपना हिसाब चुकता करेगा, उसी दिन मनुष्य-जाति एक नया जीवन प्राप्त करने में समर्थ होगी। अतएव आप लोगों का संकल्प हो कि व्रत में अविचल रहकर—करेंगे या मरेंगे।

उपमा का पुनरुल्लेख

पहले एक उपमा का उल्लेख हुआ है। सत्याग्रही मानो चूल्हे में आग देने के लिए कंडे या लकड़ी की खपच्चियों की तरह है। लकड़ी की खपच्चियाँ अपने स्वभाव से ही सहज में आग पकड़ लेती हैं और वह आग यदि काफी हो, तो बाकी लकड़ियाँ भी अच्छी तरह आग पकड़ लेती हैं। लेकिन लकड़ी

यदि गीली हो, तो रसोईदारिन उन्हें पहले धूप में सुखा लेती है। भारतवर्ष का समाज और जीवन इतना निस्तेज हो गया है कि वह गीली लकड़ी की तरह है। संभव है, १९२१ के असहयोग आंदोलन या १९३० के कानून-भंग आंदोलन के समान विराट् मुहूर्त में वह अकस्मात् प्रज्वलित हो उठे। अग्नि-शिखा की भाँति नया जीवन रचने का उत्साह अकस्मात् जाति के जीवन में दिखाई दे। लेकिन फिर एक-दो साल के भीतर ही शिखा बुझ जाती है, गीली लकड़ी में से प्रचुर धुआँ लोगों की आँखों से जिस प्रकार आँसू बरसाता है, यहाँ भी वही होता है। दोनों आंदोलनों के बीच के समय में जाति का जीवन फिर से धुएँ का जाल फैलाता है, बीच-बीच में कंठरोध होने लगता है। लकिन धुआँ उठने पर भी, आशा की बात यह है कि नीचे तब भी आग जलती रहती है। जाति नया जीवन प्राप्त करने के लिए उत्सुक है, लेकिन नयी समाज-रचना की चेष्टा में पुराने अभ्यास और संस्कार तरह-तरह के अंतरायों की सृष्टि करते हैं, यह समझ में आने पर हमारे लिए निराशा का कोई कारण नहीं रहता। केवल सुदक्ष रसोईदारिन की तरह चूल्हा सुलगाने के लिए शेष लकड़ियों को धूप में सुखा लेने की व्यवस्था करनी चाहिए।

समाज का अन्धकार मिटाने का प्रयत्न

अतः जाति के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए हमें दस साल के अंतर से एक बार संग्राम करने पर निर्भर रहने से काम नहीं चलेगा। साथ ही साथ दैनिक जीवन में पुराने आचरणों के बदले नये आचरणों को स्थापित करके पुंजीभूत आलस्य, अवसाद, भय आदि सब प्रकार की तामसिकता की नागफाँसों को शिथिल करना होगा। तभी समय पर कानून-भंग जैसे संग्राम सफल हो सकते हैं।

लेकिन दैनिक यज्ञ द्वारा समाज-शरीर के तमोबंधन को दूर करने का वह उपाय क्या है? गांधोजी मानते हैं कि रचनात्मक कार्य के अठारह

सूत्री कामों से हम उस उद्देश्य की सिद्धि कर सकते हैं। जाति के जीवन में जहाँ विषमता पैदा हुई है, भेद-भाव की वैतरणी बन गयी है, वहाँ एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य का बंधुत्व स्थापित करने की चेष्टा द्वारा हम वैतरणी पर सेतु बाँधेंगे। हिन्दुओं के साथ मुसलमानों की संप्रदाय की दृष्टि से प्रेम या सद्भावना कम है। बंधुत्व के आलिंगन में आबद्ध होकर हम दोनों संप्रदायों में सेतु की रचना करेंगे। तभी संभव है कि सहसा किसी शुभ दिन दिखाई देगा कि दोनों संप्रदाय एक-दूसरे के और भी निकट आ गये हैं और ऐक्य के बंधन में बँध गये हैं।

दामोदर नद के पास बाँध में ग्रीष्म और शीतकाल में चूहे बिल बना लेते हैं। शुरू में उन बिलों से बरसात की बाढ़ के समय धीरे-धीरे पानी बहता रहता है, किन्तु कुछ दिनों में ही देखते-देखते वहाँ एक नाला-सा बन जाता है और एक दिन पलभर के बहाव से वही सारे प्रदेश के खेतों और गाँवों को डुबा देता है। दामोदर के बरसात के स्रोत के सामने जिस प्रकार मिट्टी का बाँध तुच्छ है, मनुष्य की प्राणशक्ति की बाढ़ के सामने उसी प्रकार पुरातन संस्कारों का बंधन भी तुच्छ हो जाता है। केवल आवश्यकता इस बात की है कि प्रतिदिन के आचरण द्वारा उसे क्षीण और शिथिल करते रहें। किस प्रकार कुशलता के साथ हमारे आलस्य के बंधन को शिथिल किया जाय, इसका एक उदाहरण लीजिये।

मान लो, सत्याग्रही गाँव में खादी या ग्रामोद्योग को पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा कर रहा है। गाँव में फिर से चरखा चलने पर या दूसरे छोटे-मोटे उद्योग फैलने पर गरीब गृहस्थ अवसर के समय कुछ रोजगार करके जीवन-निर्वाह कर सकेंगे, यह बात सभी समझते हैं। लेकिन ऐसा वे कर क्यों नहीं सकते? उसीके सूक्ष्म कारण का अनुसधान करके सत्याग्रही को नयी धारा से कार्य करना होगा। संभव है, यह मालूम पड़े कि किसी गाँव में तकुआ नहीं है, लोहार नहीं है या जो हैं, वे अच्छे तकुए नहीं बना सकते। तब उसके पीछे लगकर, अपनी मदद से उन्हें सिखा-पढ़ाकर होशियार

करना होगा। संभव है, गाँव का सुतार अच्छा चरखा न बना सकता हो। तब किस प्रकार का चरखा सहज में बनाकर उसके द्वारा जल्दी सूत काता जा सके, इसकी गवेषणा करके सत्याग्रही वहीं सफलता प्राप्त करेगा। अच्छा चरखा तैयार हो जाने पर, उस पर अच्छी तरह सूत कातना सबके सीख जाने पर गाँव के लोग समझेंगे कि यहीं पर हमारी समस्या का समाधान हो सकता है, हमें बाहर पर निर्भर नहीं रहना चाहिए।

कहीं-कहीं यह भी देखने में आता है कि जुलाहा खादी बुनता है, लेकिन खादी का खरीदार नहीं है, अथवा कातनेवाली कातने के लिए राजी है, पर कपास खरीदने भर को उसके पास पैसे नहीं हैं। तब संभव है, उस कातनेवाली को सेरभर कपास देकर उसके बदले में आधा सेर सूत लेना पड़े, बाकी कतरन बाद देकर आधा सेर उसकी मजदूरी समझी जायगी। वह दो-तीन खेप सूत कातकर अपने कपड़ों के लिए यथेष्ट सूत तैयार कर लेगी। संभव है, जुलाहे की मजदूरी भी सूत के रूप में ही दे। इधर सत्याग्रही के घर में जो सूत संचित होता रहेगा, वह अपेक्षाकृत प्रतिष्ठित गृहस्थ के घर में बेच आना होगा। उन्हें पहले समझाना होगा कि वे यदि देश के गरीब गृहस्थों के साथ खादी पहनकर सहयोग का नया सूत्र नहीं गढ़ेंगे, तो समाज को फिर से नयी तरह गढ़ना संभव नहीं होगा। मिल का कपड़ा इस समय सस्ता लगता है, किन्तु सब ओर से विचार करें, तो वह बहुत महँगा है। क्योंकि मिल-मजदूर को या जिस मजदूर ने मशीन बनायी है या जो कोयले की खान में काम करता है, उनमें से किसीको उसके परिश्रम की उचित मजदूरी नहीं मिली है। और यदि कुछ मिलती है, तो उस मिलने के कारण कहीं न कहीं आज की आर्थिक व्यवस्था के कारण कोई न कोई मजदूर बेकार हो जाता है। जिस कपड़े को सस्ता बनाने के लिए मजदूर को वंचित होना पड़ता है, गाँव के कारीगर को बेकार करना पड़ता है, साथ ही साथ धनी के भंडार में रुपया जमा होता है, ऐसी 'सस्ती' चीज तो पाप पर प्रतिष्ठित है, उससे सबका कल्याण कभी नहीं हो सकता। खादी और ग्रामोद्योग

के द्वारा हम जिस प्रकार सबको काम देने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार सब शारीरिक श्रम करके यथासंभव समान रोजगार करें, हम यही चाहते हैं। सत्याग्रही इस प्रकार नयी उत्पादन-व्यवस्था के साथ धन के समान बँटवारे की बात भी प्रत्यक्ष रूप से लोगों में प्रचार करता रहेगा।

प्रतिदिन के लगातार सकुशल प्रयत्न के द्वारा देश का पुंजीभूत आलस्य किस प्रकार कम किया जाय, उसीका एक दृष्टांत दिया है। लेकिन इसके लिए सत्याग्रही को दो चीजों की आवश्यकता है। वह किसी भी दिन निराशा से आक्रांत न हो। थक जाने पर विश्राम ले, लेकिन विश्वास उसका उज्ज्वल रहे, हमेशा बुद्धियुक्त हो। अंधविश्वास के द्वारा भारत की संचित तमोराशि को कभी दूर नहीं किया जा सकेगा—उससे चूल्हे में धुआँ बढ़ेगा और आग नहीं जलेगी।

दूसरी आवश्यकता है, काम कितना ही धीरे क्यों न हो, वह बाहर की सहायता पर जहाँ तक हो, निर्भर न रहे। तकुए की कमी पड़ते ही यदि कलकत्ते भागना पड़े, बिक्री की असुविधा होते ही यदि शहरवासी धनी का आश्रय लेना पड़े, तो हमारे प्रयत्न से खादी तैयार अवश्य होगी, किन्तु जो आध्यात्मिक परिवर्तन स्वराज्य-प्रतिष्ठा के लिए गांधीजी जरूरी समझते हैं, रचनात्मक कार्य की सुचारु व्यवस्था के द्वारा जिसकी सृष्टि करना चाहते हैं, जिसके अभाव में पहले भारतवासियों ने चरखा कातने पर भी स्वाधीनता खो दी थी, वही मानस-बल और आपस में सहयोगिता का सूत्र पैदा नहीं होगा। उसके लिए आत्मनिर्भरता का उद्रेक करना होगा और उत्पादन-व्यवस्था को यथोपयुक्त मात्रा में विकेंद्रित करना होगा। गाँव की स्वाधीनता सुप्रतिष्ठित हो जाने पर ही गाँव के साथ अन्य गाँवों की, देश के साथ अन्य देशों की, राष्ट्र के साथ अन्य राष्ट्रों की स्वेच्छा से सहयोगिता स्थापन करने का समय आयेगा। उस सहयोगिता में अकल्याण नहीं है, क्योंकि वह पशु-बल पर प्रतिष्ठित नहीं है।

बुद्धियुक्त निरंतर मंगल कर्म के द्वारा सत्याग्रही गीली लकड़ी को सुखायेगा, तभी सर्वसाधारण का मन समय पर प्रदीप्त हो उठने की संभावना है।

राजनैतिक प्रचार

चरखा-खद्दर का प्रसार करने से ही स्वराज आ जायगा, सो बात नहीं है। फिर भी हम साधारणतः राजनैतिक प्रचार से जो समझते हैं, गांधीजी उससे एक स्वतंत्र शिक्षा-पद्धति का आश्रय लेते हैं और उस उपाय से फल अच्छा ही होगा, बुरा नहीं होगा। एक वास्तविक घटना लीजिये।

द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के बाद बंगाल में खाद्य सामग्री का अभाव शुरू हो गया था। इस बीच पूर्व बंगाल के एक जिले में किसानों में अनाज की कमी की खबर आयी। जिले के सदर मुकाम पर खबर आने के बाद, बंगाल में सब जगह जैसा अक्सर होता है, सब सेवा-समितियों के कार्यकर्ता उसी दम चंदा इकट्ठा करके सहायता का आयोजन करने लगे। जिन लोगों ने वह अनाज खाया, उन्हें न तो आश्चर्य हुआ, न उन्हें विरक्ति या अपमान का बोध हुआ, किसीने अपने दारिद्रय और दुरवस्था के लिए किसीके विरुद्ध शिकायत नहीं की, अपने प्रयत्न से नयी फसल पैदा करने के उपाय के बारे में किसीने सोचा नहीं, केवल भिक्षान्न-प्राप्ति में किसका कितना दावा उचित है, इसीको लेकर सब लोग माथापच्ची करने लगे। सहायता देनेवाले कर्मचारी उन्हें आवश्यकतानुसार चावल-दाल नहीं दे पाते, तो वे शिकायत करते और बीच-बीच में सदर हाकिम के यहाँ नालिश करने का भय भी दिखाते थे। किसानों की ऐसी धारणा हो गयी थी कि सहायता का अन्न सरकार की दी हुई संपत्ति है, अतः नौकर यदि ठीक से भिक्षा न दें, तो मालिक के पास शिकायत करना उचित है। किसने उन्हें ऐसी खबर दी थी, इसका कुछ पता नहीं। संभव है, किसीने न दी हो, फिर भी कई साल के लगातार दारिद्रय और अज्ञान के नीचे कुचले हुए रहने के कारण ऐसी ही एक धारणा जनता के मन में बद्धमूल हो गयी थी।

ऐसी स्थिति में एक कांग्रेस-कार्यकर्ता किसी गाँव में भूख के द्वारा मृत्यु का संवाद पाकर वहाँ गया। लाश का तब तक संस्कार नहीं हुआ था और उस दिन गाँव में हाट का दिन था, इसलिए बहुत से लोग वहाँ उपस्थित थे। कांग्रेस-कार्यकर्ता वहाँ पहुँचकर मृत व्यक्ति के बारे में पूछताछ करने लगा। संभव है, नया सहायता-केंद्र खोला जायगा, यह अनुमान करके बहुत से लोग जमा हो गये और अपने दुःखों की तरह-तरह की कहानी सुनाने लगे। लेकिन कांग्रेस-कार्यकर्ता ने जनता से पूछा कि आपके गाँव में क्या किसीके घर में अनाज नहीं था? यदि एक के घर में भी अनाज हो, तो यह व्यक्ति आपकी आँखों के सामने भूखों क्यों मरा? जनता चुप खड़ी रही। तब उन्होंने जनता को समझाया कि उनमें से प्रत्येक का इस बारे में जिस प्रकार दायित्व है, सरकार का भी उसी प्रकार दायित्व है। इसके बाद उन्होंने जनता को सलाह दी कि आप लोग चंदा करके सदर में तार भेजिये, ताकि जिला मजिस्ट्रेट पत्र पाकर मृत्यु के कारण के बारे में सही-सही जाँच करे। आप लोग भी लाश को लेकर थाने में जाइये और डॉक्टर द्वारा परीक्षा करवाकर मृत्यु अनाहार से हुई है या नहीं, इसका फैसला कीजिये।

इसके बाद इसके अनुसार ही व्यवस्था हुई। हाट में एक पैसा, दो पैसा चंदा करने के बाद एक कमेटी बनाकर उसके हाथ में खर्च सौंप दिया गया और सरकार के विभिन्न कर्मचारियों के पास तार भेजे गये। मृत देह को परीक्षा के लिए जिले के सदर थाने में ले गये। पहले तो सरकारी कर्मचारियों ने मृत्यु अनाहार से हुई है, यह स्वीकार करना नहीं चाहा। लेकिन अन्त में जब सरकारी डॉक्टर ने शव को चीरकर सही रिपोर्ट दी, तो सरकारी हाकिमों में शोर मच गया। इसके कुछ बाद ही बंगाल सरकार की ओर से उस गाँव में और पास के प्रदेश में सरकारी सहायता की व्यवस्था हुई। शहर की ओर से भिक्षान्न वितरण करने की फिर जरूरत नहीं रही।

एक कांग्रेस-कार्यकर्ता के सुचारु प्रयत्न से लोगों को नयी शिक्षा मिली। जिले का मजिस्ट्रेट, पुलिस साहब से लगाकर दारोगा, डॉक्टर, चौकीदार

आदि सब वेतनभोगी कर्मचारी प्रजा की सुख-सुविधा के लिए हैं, उन्हें भी यह शिक्षा हाथोंहाथ मिली। इसके अलावा यह भी स्पष्ट हुआ कि न्याय पाने के लिए, अपने अधिकार के लिए जिस प्रकार प्रत्येक को सचेत रहना पड़ता है, उसी प्रकार सबको एक होकर अपना अधिकार पाने के लिए कुछ परिश्रम भी करना पड़ता है। नहीं तो दावा सिर्फ दावा ही रह जाता है, वह अदा नहीं होता।

अंतिम बात

इस प्रकार राजनैतिक शिक्षा, लोगों का राष्ट्रीय अधिकार-बोध, अपने परिश्रम और यथारीति कर्तव्य-साधन के फलस्वरूप न्याय्य अधिकार प्राप्त करने का कौशल, ये सब बातें सत्याग्रही धीरे-धीरे जनता को प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा सिखायेगा। निरंतर प्रयत्न और कौशलपूर्ण कर्मप्रणाली का अवलंबन करके वह समाज में सहयोगिता, संपद्-विपद् में एक होकर चलने का अभ्यास पैदा करेगा। पुराने अधिकारों के अनुसार सुयोग-सुविधा प्राप्त करनी हो, अथवा नये आर्थिक आदर्श के अनुसार विषमताशून्य नयी समाज-रचना करनी हो, दोनों में सफलता अपनी कर्मतत्परता और दुःख को वरण करने की प्रतिज्ञा पर अवलंबित है, यही शिक्षा लोग अपने अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करेंगे।

लोग यह भी सीखेंगे कि अहिंसक क्रांति के लिए अपना खून देना पड़ता है, यह बात सच है; किन्तु केवल खून देने से सब काम पूरे नहीं होते; निरंतर पसीना बहाने की भी जरूरत है। प्रतिदिन की निरंतर कुशल कर्म-शीलता के द्वारा हमें भावी समाज की संस्थाएँ गढ़नी होंगी, धन की समानता और राष्ट्रीय समानाधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए किस संस्था में कौन-कौन से परिवर्तन करना जरूरी है, इस पर बार-बार विचार करके, परीक्षा करके इसे समाज के सब व्यवहारों में व्यक्त करना होगा।

किन्तु यदि हम यह सोचें कि एक बार अकस्मात् जोरों के प्रयत्न से

राजशक्ति पर अधिकार कर लें और इसके बाद कुछ विश्वस्त व्यक्तियों पर समाज के पुनर्गठन का सारा भार डालकर निश्चिंत हो जायेंगे, तो वर्तमान स्थिति का परिवर्तन तो होगा, लेकिन साधारण जनता का स्वराज्य नहीं प्रतिष्ठित होगा। उसके लिए अविराम जाग्रत प्रयत्न और जाग्रत दृष्टि की आवश्यकता है।

हमारा प्रयत्न यदि सुचारु रूप से चले, तो आज पृथ्वी पर पूँजीवाद के प्रसार के फलस्वरूप जो समाज और सभ्यता गढ़ उठा है, वह धीरे-धीरे क्षय होते-होते अंत में निश्चिह्न हो जायगी। उसकी जगह नया समाज खड़ा हो उठेगा, जहाँ कोई किसी पर अन्यायपूर्ण दावा नहीं करेगा, सब सबके लिए परिश्रम करेंगे, सब सबके उचित अधिकार के संरक्षण के लिए कष्ट उठाने को तैयार रहेंगे।

लेकिन रचनात्मक कार्य की ऐसी निरवच्छिन्न चेष्टा संभव है, मनुष्य-समाज में कार्यतः संभव न हो। जगन्नाथ का रथ जिस प्रकार ठहर-ठहरकर आगे बढ़ता है, मनुष्य का मन भी अज्ञान-अंधकार की गाढ़ निद्रा से ज्योति के दोनों ओर आकस्मिक और असमान गति से आगे बढ़ता रहता है। इसीलिए अहिंसक साधना से रचनात्मक कार्यों के परिपूरक रूप सत्याग्रह-संग्राम की भी जरूरत है। लेकिन सत्याग्रह केवल तभी सफल हो सकता है, यदि संग्राम में और दो संग्रामों के बीच के समय में सत्याग्रही निरालस्य प्रयत्न द्वारा समाज में तमोराशि के बंधन को यथेष्ट शिथिल करने में समर्थ हो। लड़ाई की खबर सुनने पर लोगों का उत्साह सहसा प्रदीप्त हो जाता है, यह सही है; किन्तु यदि उसके पीछे रचनात्मक कार्य न हो, तो अहिंसक सत्याग्रह अंत में व्यर्थता में परिणत हुए बिना न रहेगा।

क्रोपाटकिन ने एक जगह लिखा है कि फ्रांस में क्रांति सफल अवश्य हुई, उच्चवर्ग के हाथ से राजदंड अकस्मात् मध्यम श्रेणी के हाथ में आ गया; लेकिन वह तो क्रांति का आयोजन-मात्र था, क्रांति नहीं थी। जनता तब बार-बार नये शासकों से पूछती थी कि तुम्हीं बताओ, हम अब क्या करें, कैसे, भोजन-

वस्त्र की व्यवस्था करें, नया समाज कैसे बनायें। किन्तु वास्तविक क्रांति के बारे में मध्यम श्रेणी के लोगों का कोई ज्ञान ही नहीं था। पुरानी जीवन-धारा के बदले एक नयी जीवन-धारा की रचना करनी होगी, यह वे नहीं जानते थे। राजशक्ति के हस्तांतर को ही क्रांति समझकर उन्होंने भूल की थी। लेकिन क्रांति आती है मनुष्य के प्रतिदिन की जीवन-यात्रा में, उसके खाने, पहनने में, कर्म में, आपस के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों में। प्रत्येक क्षेत्र में पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नयी सुचिंतित व्यवस्था का उदय होता है। राजशक्ति का हस्तांतर होना जरूरी है, लेकिन नये समाज का रूप यदि क्रांतिकारियों के मन में स्पष्ट न हो, तो सरकारी सत्ता का अधिकार भी अंत में व्यर्थता में परिणत होगा; पुराना शोषण समाप्त होकर उसके स्थान पर नये शोषण-यंत्र का आविर्भाव होगा।

इसीलिए गांधीजी बार-बार रचनात्मक कार्य के द्वारा जनता में नया जीवन निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। सब प्रकार से शोषण-शून्य साम्य के ऊपर प्रतिष्ठित समाज-रचना के प्रयत्न से वे लोगों को नये ज़ीवन की दीक्षा देना चाहते हैं। यह धारणा लेकर यदि हम रचनात्मक कार्य का अनुसरण करें, तभी हमारा अहिंसक असहयोग समय पर सार्थक होगा। हमारा प्रयत्न पर्याप्त होने पर संभव है, कानून-भंग की आवश्यकता भी न हो। गीली लकड़ी के सूख जाने पर चूल्हे में अच्छी आग सुलगेगी और उसीकी गरमी से केवल भारतवर्ष ही नहीं, सारी पृथ्वी के वंचित और शोषित नर-नारी अपनी शक्ति का सहारा लेकर ही मंगलमय, मुक्त समाज-व्यवस्था बनाने और उसकी रक्षा करने का आश्वासन पायेंगे।

● ● ●

मंगल मार्ग से क्रांति-साधना :७:

पाठक—एक बात हमारी समझ में नहीं आती। आज के युग में गांधी के भक्त चरखा चलाने की चेष्टा क्यों करते हैं? यंत्रों की सुविधा को छोड़कर चरखा या बैलगाड़ी के युग में लौट जाना क्या ठीक है?

मनुष्य पहले अपने हाथ की शक्ति से या गाय-बैल की सहायता से छोटी-मोटी मशीन चलाकर अपने व्यवहार की वस्तु तैयार कर लेता था। आज दुनिया उससे बहुत आगे बढ़ गयी है। संसार की जनसंख्या बढ़ी है, मनुष्य की जरूरतें भी बढ़ी हैं; ऐसी हालत में पुराने युग में लौट जाना दो-चार देशों के लिए शायद आज भी संभव हो, लेकिन यदि धन की विषमता दूर करने के लिए सभी बैलगाड़ी के युग में लौट जायँ, तब तो सभी गरीब नहीं हो जायेंगे? गरीब-अमीर का वैषम्य मिटाने के लिए क्या सभी को गरीब होकर समान होना होगा?

लेखक—आपका प्रश्न संगत है और गांधीजी की ओर से इसका उत्तर देना कठिन है। लेकिन इसका भी उत्तर है।

जीव-जंतुओं की शक्ति के द्वारा जब यंत्र चलते थे, मनुष्य अपने बाहुबल से जब कपड़ा बुनता था, लोहे के अस्त्र तैयार करता था, उससे सब लोगों की जरूरतें पूरी नहीं होती थीं, यह बात ठीक है। आज कोयला और बिजली की शक्ति के द्वारा मनुष्य का अभाव दूर करने की सामग्री बहुत अधिक परिमाण में पैदा होती है; लेकिन यंत्रों के कारण समस्त उद्योग बड़े-बड़े शहरों में केंद्रीभूत होते जा रहे हैं; गाँव में जो रहते हैं, उनके लिए मजदूरी करने के सिवा और कुछ बाकी नहीं रहता। गरीब-अमीर का वैषम्य भी बहुत बढ़ गया है।

पाठक—यह बात तो वर्तमान युग के अनेक चिंतनशील व्यक्ति स्वीकार

करते हैं। केंद्रीभूत उद्योग होने से युद्ध के समय शत्रु की बमबारी से उनके विध्वंस की संभावना बहुत बढ़ जाती है, इसलिए उद्योग-धन्धों का विकेंद्रीकरण तो स्वतः हो रहा है।

और कोयले के बदले बिजली की शक्ति का सहारा लेने पर उद्योगों का विकेंद्रीकरण सहज ही हो जायगा। गाँव के लोग केवल मजदूरी न करके अपनी स्वाधीन कारीगरी वृत्ति की ओर फिर लौट जायेंगे; लेकिन गांधीजी का चरखा और खद्दर पर इतना जोर क्यों है?

लेखक—गांधीजी ने चरखे को उद्योग के विकेंद्रीकरण का सर्वोत्तम आदर्श माना था। विकेंद्रीकरण की ओर ही उनका झुकाव था। यदि बिजली की शक्ति का व्यवहार करके मनुष्य थोड़ी मेहनत से उपयोगी वस्तु तैयार करे और उस बिजली की शक्ति का केंद्र यदि सरकार के आधीन या ग्राम-पंचायत के अधिकार में हो, तो इससे उन्हें खुशी ही होगी—गांधीजी यह बात लिख गये हैं।

असल बात है—विकेंद्रीकरण। इसमें वे दो प्रधान गुण देखते थे। उत्पादन के विकेंद्रीकरण से आर्थिक समृद्धि का समान वितरण संभव है। और दूसरे, वस्त्र या इसी प्रकार की किसी उपयोगी वस्तु के उत्पादन में प्रत्येक मनुष्य यदि दायित्व ले, तो आज बुद्धिजीवी और श्रमजीवी में जो व्यवधान पैदा होता जा रहा है, वह भी दूर हो जायगा, यही उनकी धारणा थी।

इसके अलावा एक और बात है। मान लो, आज भारत के समान देश के लिए कब समूचा देश बिजली की शक्ति से प्लावित हो उठेगा, इसका कोई ठीक-ठिकाना नहीं है, तो ऐसी स्थिति में क्या मनुष्य को पूँजीवाद की दासता में उतने दिन बैठे रहना होगा?

पाठक—यह क्यों? पूँजी के तंत्र को जल्दी से तोड़कर कल-कारखाने, जमीन, नद-नदी, सभी को सरकार या जनता के अधिकार में लाना चाहिए।

लेखक—निरन्न श्रमिक या भारत के समान शोषित, पीड़ित देश के

गाँववासी किसान यदि धन-तंत्र के साथ असहयोग करें, तो वे क्या खा-पहनकर जियेंगे ?

पाठक—इसीलिए तो पीड़ितों का पक्ष लेकर उनके आत्मीय स्वजनों के द्वारा रचित सेना-विभाग में विद्रोह पैदा करके जल्दी से कार्यसिद्धि करनी चाहिए।

लेखक—आज के युद्धास्त्रों ने जिस प्रकार उन्नति की है, उनके सामने तीर-कमान, बंदूक लेकर क्या जनसमूह खड़ा हो सकेगा ? अहिंसक असहयोग क्या उनके लिए और भी अधिक सहज और संभव नहीं है ?

पाठक—किंतु अहिंसक असहयोग ही यदि वे करें, तो पूँजीवाद के अंग-स्वरूप जमीन या मशीनों के मालिक उन्हें निकालकर क्या परास्त नहीं कर सकते ?

लेखक—कर सकते हैं। लेकिन सत्याग्रह आरंभ करने के पहले वे यदि चरखा और खद्दर का काम सीखें, अन्यान्य उद्योग सीखें और उन सब कामों को पुरानी पद्धति से न करके उपयोगी उद्योगों को केंद्र करके आपस में समवायमूलक छोटे-छोटे समाज संगठित कर लें, तो क्या उनकी लड़ाई में जूझने की शक्ति नहीं बढ़ेगी ?

पाठक—उस प्रकार का संगठन यदि सफल हो, तो लड़ाई की शक्ति बढ़ सकती है, शायद असहयोग को और भी ज्यादा दिन चलाना संभव हो। लेकिन इतने संगठन तक धनी लोग आप लोगों को बढ़ने देंगे या नहीं, इसमें संदेह है। आज विश्व में सर्वत्र धनिक-वर्ग ने उत्पादन-व्यवस्था को जिस प्रकार अपने हाथ में कर रखा है और सरकार के कौशलपूर्ण व्यवहार द्वारा श्रमिक-वर्ग को जिस प्रकार नीचे पटक रखा है, रचनात्मक कार्य से होनेवाली नयी मुक्ति की चेष्टा को वे क्या व्यर्थ नहीं कर देंगे ? सन् १९४२ की क्रांति के समय ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण सर्वत्र खादी और बुनियादी शिक्षा का काम क्या बंद नहीं हो गया था ?

लेखक—धनिकों के हाथ में रुकावट डालने की शक्ति प्रचंड है, इस बारे में संदेह नहीं है और इसी उद्देश्य से सरकारी शक्ति का बारंबार व्यवहार

हुआ है, इसके भी पर्याप्त प्रमाण हैं। रचनात्मक कार्य में हम लोग कितने ही अग्रसर क्यों न हों, राष्ट्रीय सत्ता यदि धनियों के हाथ में रह जाय, तो सरकारी सत्ता के प्रयोग द्वारा वे रचनात्मक कार्य को परास्त कर देंगे, इसमें भी संदेह नहीं है। इसीलिए गांधीजी ने मन-ही-मन तंत्रहीन या अराजकतावादी होने पर भी सरकारी सत्ता को अधिकार में लेने के लिए बारंबार सत्याग्रह-संग्राम चलाया था। उनकी इच्छा थी कि स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद भारत अपनी सारी शक्ति का प्रयोग करके विकेंद्रीकरण की चेष्टा करेगा; आर्थिक और राजनैतिक अधिकार को जन-समूह में विकीर्ण कर देने के लिए गांधी-प्रदर्शित रचनात्मक कार्य में सर्वतोभाव उत्साह और सहायता देगा।

पाठक—यही बात यदि हो, तो राष्ट्रीय क्रांति की सफलता के पहले रचनात्मक कार्य बेकार है। पहले धनिक-वर्ग के हाथ से सत्ता छीनकर इसके बाद रचनात्मक कार्य शुरू करना चाहिए। आप तो तोड़ने के पहले ही बनाना चाहते हैं।

लेखक—गांधीजी तोड़ने से पहले गढ़ने की बात नहीं कहते थे, वे गढ़ते-गढ़ते तोड़ने की बात कहते थे। पहले तोड़ना, फिर गढ़ना—इस नीति का वे समर्थन नहीं करते थे।

पाठक—क्यों ?

लेखक—इसका कारण यह कि सिर्फ तोड़ने की ओर उनका लक्ष्य नहीं था। भविष्य में किस प्रकार के समाज की हम रचना करना चाहते हैं, उसको आज से ही हाथ में कलम लेकर वे जनसाधारण को शिक्षा देने की चेष्टा करते थे। भविष्य में समतामूलक सहयोगितापूर्ण जो आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था वे प्रतिष्ठित करना चाहते थे, उसी जीवन का नमूना वे चरखा-खादी अथवा बुनियादी शिक्षा द्वारा अभी से जनसाधारण के सामने स्पष्ट करने का प्रयत्न करते रहते थे।

राष्ट्रीय क्रांति में यदि केवल शासन-सत्ता को हाथ में करने का ही उनका लक्ष्य होता, तो संभव है, उनके नेतृत्व में जनता राष्ट्रीय शक्ति पर

एक दिन अधिकार करने के बाद जिस किसीके भी हाथ में निर्माण का दायित्व छोड़ देती। इसमें मंगल की अपेक्षा अमंगल की ही संभावना अधिक है। मानवोय इतिहास में बार-बार देखा गया है कि राष्ट्रीय क्रांति के बाद जनता के शोषण ने एक रूप छोड़कर दूसरा रूप अपना लिया है, शोषण-मुक्ति एक दूर के स्वप्न की तरह ही रह जाती है।

इसीलिए गांधीजी भावी समाज का पौधा प्रारम्भ से रोपने की चेष्टा करते थे। राष्ट्रीय क्रान्ति के द्वारा राष्ट्रीय शासन जब हाथ में आ जायगा, तब सर्वत्र उसी पौधे को व्यापक रूप से रोपने का समय आयेगा, गांधीजी यही सोचते थे। इसके अभाव में नये जीवन का नमूना बीजरूप में ही समाज-शरीर के किसी कोने में पड़ा रह जायगा, उसकी वृद्धि होना संभव नहीं होगा।

पाठक—अच्छा, तर्क की खातिर यदि मान ही लें कि जनता भविष्य का पौधा अभी से छोटे-छोटे खेतों में रोपकर रख सकती है और मान लो, क्रांति के बाद नया जीवन गढ़ने के समय इसके द्वारा सुविधा होना संभव है; तब भी यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार निर्माण और विनाश का काम एक साथ मिल जाने से दोनों चेष्टाएँ क्या दुर्बल नहीं हो जातीं? इसकी अपेक्षा सारी शक्ति लगाकर पहले तोड़ने का काम करके बाद में गढ़ने की चेष्टा करना क्या अच्छा नहीं होगा?

लेखक—आपकी युक्ति स्वीकार करता हूँ। लेकिन आप जब जल्दी से कार्यसिद्धि की बात सोचते हैं, तब हिंसा के रास्ते राष्ट्रीय शक्ति को हस्तगत करने की बात ही सोचते हैं?

पाठक—अवश्य। राष्ट्रीय शक्ति हस्तगत न होने तक गढ़ने का काम पूरा होना संभव नहीं है, यह तो आपने गांधीवादी होने पर भी स्वीकार कर लिया है। मेरी राय है कि राष्ट्रीय शक्ति हिंसा के अलावा किसी दूसरे उपाय से हस्तगत नहीं हो सकती।

लेखक—अच्छा, हिंसा के रास्ते क्रांति को नियंत्रित करने के लिए एक पार्टी की आवश्यकता अपरिहार्य है, यह तो आप मानते ही होंगे?

पाठक—अवश्य। वह पार्टी सिर्फ तोड़-फोड़ के समय ही नहीं, निर्माण के समय भी जनता को शिक्षित और नियंत्रित करेगी।

लेखक—लेकिन गांधीजी की क्रांति का रास्ता ऐसा है कि उसमें पार्टी की उपयोगिता यथासंभव कम है। जनता यदि शुरू से ही इस बात को जान ले कि उसका उद्देश्य क्रांति है और अगर वह सत्याग्रह का कर्म-कौशल भी सीख ले, तो वह क्रांति या शांत प्रतिरोध के द्वारा राष्ट्रीय शक्ति को एक-बारगी निष्क्रिय कर सकती है। हिंसा के रास्ते नियंत्रण केंद्रीभूत न हो, तो जल्दी सिद्धि मिलना संभव नहीं है; अहिंसा के रास्ते गांधीजी का लक्ष्य था, क्रांति की हलचल को भी यथासंभव विकेंद्रित कर देना। कार्य आरंभ करने से पहले प्रत्येक सत्याग्रही लक्ष्य और साधन के बारे में स्थिर-दृष्टि हो लेगा, लेकिन काम में लग जाने के बाद प्रत्येक अपनी स्थिति के अनुसार अग्रसर होगा। वर्तमान युद्ध में 'पैराट्रुप' सैनिक जिस प्रकार चलते हैं, उसी प्रकार सत्याग्रही को अपना नेतृत्व अपने ऊपर ही रखना होगा। कम-से-कम सत्या-ग्रह-पद्धति का लक्ष्य यही है।

पाठक—इसमें मुझे संदेह है। जो जनता इतने दिनों के शोषण से जर्जर हो रही है, जिसके मन में अंधकार छाया है, जो संघबद्ध नहीं; बल्कि विक्षिप्त रूप से रहती है, वह भला कभी केवल अहिंसा के मंत्र का सहारा लेकर सम्मिलित चेष्टा द्वारा क्रांति को सफल कर सकती है ? हो सकता है, वह कुछ गोलमाल पैदा कर दे, लेकिन राष्ट्रीय शक्ति को धनिक-वर्ग के हाथ से छीन लेना किसी भी बुद्धिशाली कुशल पार्टी की सहायता के बिना क्या संभव है ? मुझे तो विश्वास नहीं होता।

लेखक—आपका संदेह संगत है, इसमें संदेह नहीं। लेकिन हिंसात्मक क्रांति के बाद किसी पार्टी ने शक्ति की बागडोर अपने हाथ से दूसरी पार्टी के हाथों स्वेच्छा से सौंप दी हो, इसका कोई उदाहरण दे सकते हैं ?

पाठक—इससे क्या हुआ ? पहले ऐसा नहीं हुआ, तो आज भी वैसी

पार्टी नहीं हो सकती—यह बात आपसे किसने कही ? पहले मनुष्य आकाश में नहीं उड़ सकता था, आज विज्ञान की शक्ति से वह भी संभव हो गया है।

लेखक—आपकी बात ठीक है। पहले कभी अहिंसक क्रांति संभव नहीं हुई, इसलिए आज भी वह संभव नहीं है, आप भी ऐसा क्यों सोचते हैं ?

पाठक—इतिहास में अहिंसा कहीं भी सफल हुई हो, यह दिखा सकते हैं ?

लेखक—दिखा सकता हूँ। पहले जहाँ हिंसा के व्यवहार को अपरिहार्य समझा जाता था, वहाँ आज मनुष्य अहिंसा का प्रयोग करता है। शिक्षा के क्षेत्र में ही हम लोगों ने बचपन में कितनी मार खायी है ! पागल की चिकित्सा या अपराधी को ठीक करने के लिए प्रहार या दंड के सिवा मनुष्य किसी और उपाय को नहीं जानता था। लेकिन आज शिक्षा-विज्ञान और मनोविज्ञान की इतनी उन्नति हुई है कि हिंसा का व्यवहार इन तीनों क्षेत्रों में से सर्वथा लुप्त हो गया है। शिक्षा के काम में और मानसिक रोग की चिकित्सा में संपूर्ण क्रांति हो गयी है।

सारांश यह कि व्यक्ति का परिवर्तन करने के लिए पहले जहाँ हिंसा का प्रयोग था, वहाँ मनुष्य ने आज अहिंसा का एकमात्र कार्यकारी मार्ग स्वीकार कर लिया है। समष्टि के बारे में मनुष्य आज भी संरक्षणशील हो रहा है। जनता का परिवर्तन करने की चेष्टा में मनुष्य को अहिंसा में विश्वास नहीं है, वह चिरकाल से चले आये हिंसा के प्रयोग का ही सहारा लेता है।

पाठक—आप क्या यह कहना चाहते हैं कि स्वार्थी धनिक-वर्ग अहिंसा के प्रभाव से ऐसे बदल जायँगे कि गरीबों के लिए उनके प्राण रो उठेंगे ?

लेखक—नहीं, सो बात नहीं है। अहिंसक सत्याग्रह के द्वारा उनके हृदय का परिवर्तन होने के बाद वे दरिद्र जनता की बात सुनेंगे और गरीब जनता जिस नयी समाज-व्यवस्था की रचना करना चाहती है, उसमें संभव है, सहायता और सहयोगिता भी कर सकें।

पाठक—असंभव बात है। उनके हृदय का परिवर्तन होगा—आपकी यह धारणा एक झूठा स्वप्न है।

लेखक—अच्छा, आपसे ही पूछता हूँ। जब आप हिंसात्मक क्रांति की बात कहते हैं, तब क्या आप यह नहीं सोचते कि धन के मद में चूर स्वार्थी धनियों को प्रहार के द्वारा आप पदावनत करेंगे, उनका मान-भंग करेंगे ?

पाठक—हाँ, यह तो करते हैं। लेकिन यह तो हृदय का परिवर्तन नहीं है।

लेखक—एक दृष्टि से हृदय का ही परिवर्तन है। जो हृदय दंभ और शक्ति के अहंकार से आच्छन्न था, वहाँ अब भय आ गया है। भय के वशीभूत होकर धनिक-वर्ग आपकी बात सुनने पर राजी हो गया, आपकी युक्ति का अनुमोदन करता गया। अहिंसा के रास्ते भय के बदले दरिद्र सत्याग्रही के प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव जगाने की चेष्टा की जाती है।

दरिद्र लोग यदि कहें कि हम शोषणमूलक व्यवस्था के साथ असहयोग करेंगे, तुममें जितनी सजा देने की शक्ति हो, उतनी सजा दो, हम लोगों को तुम तोड़ नहीं सकोगे। हम लोग रचनात्मक कार्य के द्वारा जितनी भी अपने खाने-पहनने की व्यवस्था कर सके हैं, उसके सहारे गरीब की तरह जीवित रहेंगे, फिर भी हमारे द्वारा तुम अपनी शोषण-व्यवस्था को टिकाये नहीं रख सकोगे। तब बताओ, क्या स्थिति होगी ?

पाठक—स्थिति और क्या होगी ? धनिक-वर्ग गरीबों पर बुरी तरह प्रहार करने लगेगा। अनाहार के द्वारा उनका दमन करने की चेष्टा करेगा।

लेखक—यदि सत्याग्रही अटल रहें, खुद मर जायँ, फिर भी वश में न हों, तो धनिक-वर्ग अंत में अपने कल-कारखाने और जमींदारी नहीं चला सकेगा। इसके अलावा, गरीबों के साहस से उनमें विस्मय और श्रद्धा भी शायद जाग सकती है।

गरीब यदि हिंसा का प्रयोग न करें, तो धनिक-वर्ग, जो आत्मरक्षा के लिए अपने अस्त्र-प्रयोग को न्याय्य और संगत समझता था, अहिंसा के विरुद्ध अस्त्र-प्रयोग अधिक दिन नहीं कर सकेगा; उसके मन में कुछ-न-कुछ लज्जा जागेगी ही।

पाठक—बलिहारी है ! धनिक लोग गरीबों को निर्मूल किये बिना शांत होंगे, आप यह समझते हैं ? वे लज्जित होनेवाले व्यक्ति ही नहीं हैं। उनके आँखों का पर्दा नहीं है। जितने दिन स्वार्थबुद्धि प्रबल रहेगी, उतने दिन उनकी दृष्टि भी नहीं बदलेगी।

लेखक—बदलेगी, यह विश्वास लेकर ही सत्याग्रही अग्रसर होता है।

पाठक—अच्छा, सचमुच ही क्या आप ऐसा सोचते हैं कि सत्याग्रह से धनिक-वर्ग में किसी दिन शुभबुद्धि का उदय होगा ?

लेखक—प्रत्येक धनी का हृदय परिवर्तित हो जायगा, सचमुच ऐसी ही आशा मैं करता हूँ, ऐसा नहीं कह सकता। लेकिन दुष्ट प्रकृति के धनी अंत में अकेले पड़ जायँगे अर्थात् उन्हें एक कोने में कर दिया जायगा, ऐसा मैं मानता हूँ। एक उदाहरण देकर बात को स्पष्ट करने की चेष्टा करता हूँ।

पाठक—कहिये।

लेखक—बंगाल में १९४६ में हिंदू-मुसलिम दंगा हुआ था। उस समय नोआखाली में भी दंगा हुआ था। उस दंगे में मुसलमानों ने करीब ३०० लोगों का खून किया, कई करोड़ रुपयों के घर-मकान जला दिये या लूट लिये, स्त्रियों पर भी अनेक प्रकार के अत्याचार किये और जो हिंदू भाग नहीं सके, उन्हें जबरदस्ती मुसलमान बनाया।

उसी समय गुंडों का ही राज चल रहा था। साधारण मुसलमान जनता को उत्तेजित करके कुछ स्वार्थी, बुद्धिमान् मुसलमानों ने यह सारा विघटन किया था।

गांधीजी ने वहाँ पहुँचकर साधारण मुसलमान को सेवा और सद्‌शिक्षा द्वारा प्रभावित करने की चेष्टा की। हिन्दुओं को भी उन्होंने समझाया कि डरकर कोई धर्म-परिवर्तन न करे, बल्कि नोआखाली में ही अपना धर्मानुष्ठान अटल रखकर साहस के साथ जीते रहना चाहिए। उन्होंने उन लोगों से यह बात भी कही कि यदि इस संधि-काल में वे अपने जीवन को बदल सकें, डॉक्टर यदि सेवा की भावना से गाँव के सर्वसाधारण लोगों को स्वस्थ रहना

सिखायें, इंजीनियर उन्हें सुगमता से अल्पव्यय में किस प्रकार अच्छा मकान बनाया जा सकता है, यह सिखायें, तो उसी सेवा के कारण साधारण मुसलमान धीरे-धीरे सोचने लगेंगे कि इन सब शिक्षित व्यक्तियों के गाँव में रहने से हमारे जीवन की उन्नति हो रही है। ऐसे लोग यदि अपने हिन्दू-धर्म को मानते हुए वहाँ रहना चाहें, तो शायद मुसलमानों को इसमें आपत्ति नहीं होगी। यदि कुशिक्षा के कारण, सामयिक उत्तेजना के कारण कोई आपत्ति करे भी, और तब भी हिन्दू अविचल साहस के साथ अत्याचारी के विरुद्ध अस्त्र धारण न करें, बल्कि मृत्यु स्वीकार करके अपने धर्म पर दृढ़ रहें, तो इसका एक नया फल मिलेगा, ऐसी संभावना है।

मुसलमानों में भी सब बुरे नहीं हैं। एक समाज में एक ही समय सब बुरे या सब भले नहीं हो सकते। फिर भी भले लोग साधारणतः दुर्बल होते हैं और बुरे लोग सहज ही में प्रबल आकार धारण कर लेते हैं। अधिकांश मनुष्य सत् और असत् के सम्मिश्रण से बने हुए हैं। सामयिक उत्तेजना के कारण उनके चित्त में सत् निष्क्रिय हो जाता है और असत् प्रबल हो जाता है। ऐसी अवस्था में सत्याग्रहियों के अहिंसक प्रतिरोध के कारण सत् निष्क्रिय अवस्था में पड़ा नहीं रह सकेगा। मुसलिम-समाज में भी जो लोग भले हैं, वे जाग्रत होकर बुरों का प्रतिरोध करने की चेष्टा करेंगे।

दंगे के समय जिस अशुभ शक्ति का प्राबल्य हो गया था, साधारण मुसलमान के अंतरस्थ सत् और असत् में से असत् को लोभ या क्रोध द्वारा उकसाकर जिन लोगों ने हिन्दुओं का अनिष्ट किया था, वे ही जब सत्याग्रह के कारण सत् की शक्ति बढ़ेगी, तो साधारण मुसलमान के सहयोग से वंचित हो जायेंगे। अर्थात् क्रूर स्वार्थान्वेषी गुंडों का हृदय तत्काल परिवर्तित न होने पर भी जिस शक्ति का सहारा लेकर वे लोग अपना काम बनाते हैं, वह फिर संभव नहीं होगा; वे लोग अलग एक कोने में खदेड़ दिये जायेंगे। सारांश यह कि सत्याग्रहियों के वीर्य के प्रभाव से सत् का प्रसार और असत् का संकोच न होगा। फलतः सत्याग्रही सफल-मनोरथ होंगे।

पाठक—तर्क की दृष्टि से आपके मत की उपयुक्तता शायद स्वीकार कर भी लूँ, लेकिन कहीं भी ऐसी बात हुई है, क्या आप यह कह सकते हैं? नोआखाली में गांधीजी की ४ महीने की चेष्टा और प्रयत्न से क्या आशानुरूप फल मिला था?

लेखक—नहीं, नोआखाली में गांधीजी को आशानुरूप फल नहीं मिला, यह सही है। लेकिन हिन्दू-मुसलमानों का बहुत दिनों का परस्पर का सामाजिक और अर्थनैतिक असहयोग या द्वंद्व सिर्फ चार महीने की चिकित्सा से और दो-चार जनों की चेष्टा से समाप्त हो जायगा, ऐसी आशा करना ही गलत है।

किंतु अहिंसा का फल होता है, इस बात का भारतवर्ष की स्वाधीनता के इतिहास से ही प्रमाण मिल जायगा।

पाठक—कह क्या रहे हैं? १९४२ के आंदोलन को आप अहिंसा की सफलता कहना चाहते हैं?

लेखक—१९४२ में हमारा मन अंग्रेजों के प्रति प्रेम से भरा हुआ नहीं था, यह बात सही है; लेकिन अंग्रेजों का हमने खून भी तो नहीं किया। गांधीजी संग्राम को अहिंसक रखना चाहते हैं, यह बात जानकर लोगों ने थाना-कचहरी पर दखल किया; लेकिन पुलिस के द्वारा परित्यक्त अस्त्रों का व्यवहार नहीं किया, बल्कि उन्हें तालाब में फेंक दिया या तोड़ डाला। सारांश यह कि आचरण में वे संयत थे। दो-एक जगह बड़े अत्याचारी राजकर्मचारियों के प्रति व्यक्तिगत क्रोध या प्रतिहिंसा के कारण उनका खून भी किया गया। लेकिन अंग्रेजों को नहीं सताया गया।

१९२१, १९३०-३३, १९४१ के सत्याग्रह-आंदोलनों में और व्यक्तिगत असंख्य छोटी-छोटी घटनाओं के द्वारा हमारे नेता गांधीजी बार-बार अंग्रेजों को यह आश्वासन देते आ रहे थे कि हमें स्वाधीनता प्यारी है, इसीलिए हम मृत्यु को वरण कर रहे हैं। अंग्रेजों का साम्राज्यवाद नष्ट करना हमारा लक्ष्य है, व्यक्तिगत रूप से अंग्रेजों के प्रति हमारा कोई विद्वेष नहीं है।

परिणामस्वरूप जब १९४५ के बाद अंतर्राष्ट्रीय अवस्था ऐसी हो गयी कि अंग्रेजों को भारतवर्ष छोड़ना ही होगा, तब इंग्लैंड में एक ऐसा बड़ा दल मिला, जिसने भारत की स्वाधीनता के दावे का समर्थन किया। कुल जमा बीस-पचीस साल के अहिंसक आचरण के कारण इंग्लैंड में भी हम लोग भारतवर्ष के दावे का समर्थन करनेवाले एक दल की सृष्टि कर सके थे। हिंसा का अस्त्र धारण करने पर इंग्लैंड में भारत के दावे का समर्थक इतना बड़ा दल नहीं पाया जा सकता था।

पाठक—भारतवर्ष के बहुत से लोग जो यह कहते हैं कि आइ० एन० ए० (आजाद हिन्द फौज) के आंदोलन के कारण ही अंग्रेज डरकर यहाँ से चले गये थे, यह क्या आप स्वीकार नहीं करते ?

लेखक—आजाद हिन्द फौज का कोई फल नहीं हुआ—मैं यह नहीं कहता। १९३९ से १९४५ तक युद्ध चलने के बाद जब संधि हुई, तब अंग्रेज सैनिक लड़ाई से थक गये थे, घर लौटने के लिए व्याकुल हो गये थे। भारत के सेना-विभाग में भी आजाद हिन्द फौज का इतिहास सुनकर विद्रोह की भावना उठ रही थी। संभव है, अंग्रेजों ने सोचा हो कि ऐसी अवस्था में भारतीय सैनिकों द्वारा साम्राज्य-रक्षा करना संभव नहीं होगा या अत्यंत अनिश्चित है; क्लांत अंग्रेज सैनिकों में भी साम्राज्य-रक्षा का जोश ज्यादा नहीं रहेगा। इसके अलावा १९४२ में दारुण विरोध की संभावना होते हुए भी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की सब तरह की चेष्टा को परास्त करके इंग्लैंड, अमेरिका और रूस के समर्थन के बिना पराजय को अत्यंत संभव जानते हुए भी, जब कांग्रेस ने आन्दोलन की सूचना दे दी, तब १९४५ की युद्ध से थकी हुई दुनिया में वही संस्था अगर व्यापक आंदोलन शुरू करे, तो उसे रोक सकना संभव नहीं हो सकेगा—संभव है, यही सब बातें सोच-समझकर अंग्रेजों ने चुपचाप विदा ले लेना ही बुद्धिमानी का काम समझा हो।

पाठक—तब तो भारत की आजादी सिर्फ अहिंसक असहयोग की शक्ति से नहीं आयी, यह बात आप भी स्वीकार करते हैं।

लेखक—इसमें संदेह क्या है ? दुनिया के इतिहास में जब भी किसी देश ने स्वाधीनता प्राप्त की है, तब वह केवल अपने हिंसा के अस्त्र के द्वारा ही प्राप्त की हो, ऐसा तो नहीं सुना। बहुत-सी घटनाओं के सम्मिश्रण से सरकार में परिवर्तन होता है। भारत में भी वही हुआ है। और इन सब घटनाओं की परंपरा में अहिंसक संग्राम-शक्ति ने १९२१ से लगाकर पचीस साल तक एक ओर जिस प्रकार भारत की जनता को शक्तिशाली किया था, दूसरी ओर उसी प्रकार अंग्रेज जाति के हृदय में भी जो सद्भावना का उन्मेष और परिपोषण किया था, वह भी तो कोई कम बड़ी बात नहीं है। इससे हमारे लिए स्वाधीनता प्राप्त करना और भी सहज हो गया—यह बात क्या आप अस्वीकार करेंगे ?

पाठक—तब क्या आप यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य-हृदय में शुभ बुद्धि को जगाकर ही हम हमेशा क्रांति सफल करने की चेष्टा करें ?

लेखक—आप ठीक कहते हैं। मंगल के पथ पर चलकर ही क्रांति की साधना करना उचित है, यही हम ठीक समझते हैं।

पाठक—जल्दी कार्यसिद्धि करने के लिए मनुष्य में जो एक प्रकार की कमजोरी है, उसे काम में लेने में हानि क्या है ? काँटे से ही अगर काँटा जल्दी निकल सके, तो किसी और उपाय की क्या आवश्यकता है ? हमारा लक्ष्य अगर काँटा निकालना ही हो, तब तो जिस उपाय से काँटा जल्दी निकाला जा सके, वही तो सबसे अच्छा रास्ता है।

लेखक—हम ऐसा नहीं समझते। धनिक-वर्ग ने लोभ, अहंकार और शक्ति के जोश में मतवाले होकर जिस समाज-व्यवस्था की रचना की है, उसे तोड़ने के लिए आप शोषित मनुष्यों के हृदय में क्रोध, प्रतिहिंसा आदि के भावों को जगाकर और उस आग को ज्यादा भड़काकर वर्तमान समाज-व्यवस्था को भस्मीभूत करना चाहते हैं। लेकिन कार्यसिद्धि के जोश में मनुष्य के अंतर की राक्षसी प्रवृत्तियाँ जब पुष्टिलाभ करेंगी, तो भविष्य के समाज-गठन के समय वे ही नाना प्रकार के अंतराय पैदा करेंगी। इसी संभावना से हम मुक्त होना

चाहते हैं। इसीलिए शुभ आदर्श तक पहुँचने के उद्देश्य में हम लोग शुभ उपायों की ही खोज करते हैं।

पाठक—लेकिन शुभ उपाय के द्वारा शुभ फल-लाभ होने का इतिहास राजनीति-क्षेत्र में नहीं है, यह कहें तो भी ठीक है। फिर भी, आप लोग अन्य प्रमाणित रास्तों को छोड़कर चलेंगे ?

लेखक—हिंसा के जिस पथ को आप इस समय सार्थक समझते हैं, सूक्ष्म विचार करने पर उसमें हम इतनी ग्लानि देखते हैं कि नये सिरे से परीक्षा करने के लिए हम पीछे नहीं हटते।

गांधीजी की विशेषता यही है कि समाज में एक महान् राजनैतिक क्रांति करने के लिए उन्होंने जगत् की बड़ी परीक्षा की थी। मनुष्य के समष्टिगत जीवन के क्षेत्र में अन्यान्य समस्याओं के समय संभव है, अहिंसा के नये-नये रास्तों या प्रयोगों का आविष्कार करना होगा। इसमें समय लगेगा, मनुष्य को बहुत-सी नयी-नयी जानकारी जुटानी होगी। किन्तु अहिंसा शुभदायक है, मनुष्य के चित्त की उन्नति और शुभ का उदय इसी पथ से जल्दी संभव है, इसीलिए सत्याग्रह को ही गांधीजी श्रेष्ठतम मार्ग समझते थे।

पाठक—अगर मान ही लें कि अहिंसा से सफलता मिलती है, फिर भी क्या इस मार्ग को आप लोग अनावश्यक लंबा मार्ग नहीं मानते ?

लेखक—इस समय वह लंबा लग सकता है, लेकिन इस मार्ग से लाभ निश्चित है, इसलिए हिंसा के अनिश्चित मार्ग की अपेक्षा सचमुच अहिंसा जल्दी सिद्धि देनेवाली है। स्वराज्य-प्राप्ति के रास्ते में निर्माण का काम विनाश के साथ-साथ चलता है, इसलिए 'पहले विनाश, फिर निर्माण' के मार्ग की अपेक्षा 'निर्माण के साथ-साथ विनाश' का मार्ग ही अच्छा है। दुर्बलचित्त मनुष्य के लिए हिंसा प्रियतर या इस समय स्वाभाविक लगने पर भी वह श्रेयस्कर नहीं है। श्रेय का सहारा लेने पर अवश्य मंगल होगा।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्!